मृत्यवे त्वा ददामीति

डॉ. स्कन्द शुक्ल

मृत्यवे त्वा ददामीति

लेखकः डॉ. स्कन्द शुक्ल

ई- प्रकाशनः 2019

आवरणः The Scream, 1893 by Edvard Munch

(सभी चित्र इंटरनेट से साभार)

लेखक

डॉ. स्कन्द शुक्ल

22 सितम्बर 1979 को राजापुर, बान्दा में जन्म. वर्तमान में लखनऊ में गठिया रोग विशेषज्ञ के रूप में कार्यरत. वृत्ति से चिकित्सक होने के कारण लोक-कष्ट और उसके निवारण से सहज जुड़ाव. साहित्य के प्रति गहरा अनुराग आरम्भ से. अनेक कविताएं-कहानियां विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित. साथ ही दो उपन्यास 'परमारथ के कारने' और 'अधूरी औरत' भी. सामाजिक मीडिया पर भी विज्ञान-स्वास्थ्य-समाज सम्बंधी लेखों-जानकारियों के माध्यम से वैज्ञानिक चेतना के प्रचार-प्रसार में सक्रिय.

मृत्यवे त्वा ददामीति

(मृत्यु को तुम्हें देता हूँ...)

उनकी मृत्यु हो रही थीः यह उनके लिए सरल और दुरूह बात, दोनों थी.

मृत्यु पर लिखना आसमान के अन्धकार में एक काला तिल और जोड़ देना है. सदियों से लोगों ने जीवन पर जितने शब्द लुटाये हैं, उससे अधिक मृत्यु पर व्यय किये हैं. जीवन पर चलने के लिए राजमार्ग और पगडण्डियाँ, दोनों हैं. मृत्यु के पथ पर चलने की राह किसी को मालूम नहीं.

सो जो मालूम नहीं, वह भय और रहस्य दोनों जगाती है. साधारणों भयों से रहस्यमय भय विशिष्ट हैं, वे व्यक्तियों में श्रद्धा का संस्कार प्रतिष्ठित करते हैं. और इसी संस्कार की अभिव्यक्ति हमें संसार के तमाम साहित्य में अलग-अलग रूपों में दिखायी देती है. जीवन से कहीं अधिक साहित्य को मृत्यु पर लिखना भाता रहा है और यह अकारण नहीं है.

लेकिन संसार की अभिरुचि मृत्यु से अधिक मृत्यूपरान्त में रही है. लोग मरना नहीं जानना चाहते, वे सोचते हैं मरने को जानना आसान है. उनके सारा ध्यान तो इसमें लगा हुआ है कि मरने के बाद उनका क्या होता है. वे मृत्यु के बाद जीवन चलता है या फिर जीवन हो सकता है, को सुनकर-मानकर ढाढ़स-भरा उच्छ्वास छोड़ते हैं. मृत्यु के बारे में उनका रहस्यात्मक भय जीवन के सन्दर्भ में है; मृत्यु के बाद भी उनके मन में एक ही प्रश्न चलता रहता है-- ''जीवन अभी और है न?''

जीवन की ऐसी अतृप्त ईप्सा भी जीवन को ठीक से समझ न पाने के कारण है. जीवन को जिस तरह एक साधारण व्यक्ति समझता है, बहुपठ भी व्यवहार में उससे बेहतर नहीं जानता. दोनों प्रकार के लोगों के लिए जीवन एक जागरण है, जिसमें लोग सारे कार्यकलाप करते हैं. मृत्यु एक निद्रा है, जिसमें चिरता का बोध है. लेकिन फिर वह यह भी सुनना चाहता है किसी मनीषी के मुँह से कि यह चिरता कथन-मात्र में ही चिरता है, बाकी इसके बाद पुनर्जन्म होगा या फिर कयामत के दिन पुनर्जागरण.

मेरा मन था कि जन्म और जागरण पर बात मृत्यु और निद्रा से पहले करनी चाहिए. आरम्भ सकारात्मक हो, तो लोगों में आशा का संचार बना रहता है. लेकिन फिर ध्यान किया तो पाया कि जब-जब मृत्यु की बात की जाएगी, जीवन की बात स्वतः हो जाएगी. उसी तरह जिस तरह जीवन की चर्चा में मृत्यु की भावस्थिति अनुभूत होती ही रहती है.

सो मैंने मृत्यु पर लिखने का निश्चय किया. मृतप्रायता पर और मृत्युस्थिति पर. मृत्यूपरान्त को जानबूझ कर सायास नहीं छुआ, जबकि जानता हूँ कि लोग उस पर तुरन्त आना चाहेंगे. वे मृत्यु के होने और हो जाने को तुरन्त बिता डालना चाहते हैं, वे उसे ठहर कर जानना-समझना नहीं चाहते.

किसी कलाजीवी के लिए मृत्यु किसी विज्ञानजीवी की तुलना में कहीं अधिक सरल किन्तु गहन अर्थ रखती है. कला के लिए मृत्यु अचेत होना हैः जो जड़ है, वह मृत है. यही कारण है कि कलाकार कई मृत्युओं की बात कर सकने में सक्षम हैं, वैज्ञानिकों की तरह उनके पास केवल एक मृत्यु नहीं है.

लेकिन जब मैं यह लिखता हूँ तो मेरी विज्ञान-चेतना मेरी तरफ तर्जनी किसी काँटे-सी हिलाने लगती है. वह निषेध जताती है कि मैं विज्ञान की 'कई' मृत्युओं की बात क्यों नहीं उठाता, जब हजारों-हजार शोधपत्र उन पर प्रकाशित हो चुके हैं. चेतना-चर्चा के समय मैं क्यों चेतना की सूक्ष्मतर व्याख्या नहीं करता. मैं क्यों पढ़ने वालों को उनके जीवन की सामूहिकता और मृत्यु की बहुलता के बारे में खुलकर बताता.

इसलिए इस पुस्तक के लिए मैंने मृत्यु की सूक्ष्मता और फिर सामूहिकता को अपना आधार बनाया. यह बताना इसका ध्येय तय किया कि चेतना-निश्चेतना, वेदना-

संवेदना, प्राण-निष्प्राण, मृत्यु-जीवन-जैसे शब्दों के स्थूल-बोध पर नहीं, सूक्ष्म बोध पर विज्ञान के प्रवक्ता के रूप में लिखूँगा. आम जन को यह धुँधला प्रबोध ही चाहे दे सकूँ कि पिछले पचास वर्षों में विज्ञान ने मृत्यु को जैसा समझा है, वैसा सदियों-सहस्त्राब्दियों में कोई नहीं समझ सका.

मेरे सामने से एक शव अपने संस्कारों में लिपटा अन्तिम-यात्रा कर रहा है. अपने धर्म के अनुरूप उसके प्रियजन उसे किसी रूप में निस्तारित कर देंगे, जिसे वे अन्तिम संस्कार कहेंगे. यह संस्कार भी स्थूल कर्मकाण्डों की एक श्रृंखला होगी जिसका काम शरीर को नियमतः विनष्ट करना है. देह तो विघटित होगी ही, लेकिन उसी तरह हो जिस तरह हमारी परम्पराएँ बताती आयी हैं. देह के विघटन के आधार पर भी उसके प्रियजन और अन्य, उसके जीवन का मूल्यांकन करेंगे. जैसे तुम मरे हो, वैसे तुम जिये थे. तुम्हें मृत्यु विकृत मिली, निःसन्देह यह तुम्हारे विकृत जीवन का इंगन भी है. सदाचार करते, तो सत्प्रयाण होता! दुराचार किया होगा, तभी तो दुष्प्रयाण किया!

स्थूल मृत्यु का प्रकार विज्ञान की दृष्टि में प्रकार-मात्र है, उसमें कोई सत् या दुः का भाव अन्तर्निहित नहीं है. जीवन के विविध कार्यकलापों की तरह मृत्यु के भी भाँति-भाँति के प्रकार हो सकते हैं, लेकिन उन प्रकारों में कोई उत्त्कृष्टता-निकृष्टता नहीं छिपी है. ऐसे में आधुनिक विज्ञान का मन्तव्य यही रहेगा कि मृत्यु को उसकी सूक्ष्मता-बहुलता के साथ तटस्थ भाव से बूझा जाए, न कि उसके साथ कोई मूल्यांकन संलग्न किया जाए. मृत्यु का मूल्य नहीं होता, उसका अस्तित्व-मात्र होता है.

शव अब तक आगे निकल चुका है. पीछे जाते परिजनों के भी पीछे एक प्रश्न चला जा रहा है. वह इस यात्रा का अन्तिम सदस्य है, इसलिए मैं उससे पूछ ही लेता हूँ- ''कौन थे? कैसे?''

वह बताता है कि उसके प्रपितामह थे. एक सौ दो वर्ष के थे. आज सुबह ही गये. एकदम से साँस रुकी. कोई कष्ट नहीं. क्षण-भर में. यही सद्गति है. कभी चींटी भी नहीं मारी. सदाचारिता जीवन-भर. उसी शैली में देह-त्याग. प्रश्न का झुका सिर उठकर आह्लादबोधक चिह्न में बदल जाता है. फिर उसे याद आता है कि मृत्यु के प्रति कुछ कर्त्तव्य संयत-नियत हैं. सो प्रश्नचिह्न ही बने रहो और आगे बढ़ो. अन्यथा अन्य लोग दिवंगत प्रपितामह को लेकर बहुत आगे निकल जाएँगे.

वृद्ध सज्जन की मृत देह के पीछे प्रश्न अपनी नत मुद्रा लिए तो चला गया लेकिन मेरा ध्यान वहीं रुक गया. कैसे इनकी मृत्यु हुई होगी? साँस रुकी होगी अचानक तो क्या हुआ होगा? उस समय और उसके बाद के क्षणों में क्या-क्या गतिविधियाँ हुई होंगी? मृत्यु का होना कैसे हुआ होगा? जीवन बुझा होगा तो कैसे? ज्योति मद्धिम पड़ते-पड़ते अस्त हुई होगी तो कैसे? प्रकाश लोप हुआ होगा तो कैसी लुपलुपाहट के साथ? रोशनी की जीवित उपमा किसी कमरे के स्विच की लाइट-सरीखी थोड़े ही है!

युग के जीवन-प्रतीक उस युग के जीवन के अनुरूप ही होते हैं, मृत्यु-प्रतीक भी मृत्यु-सरीखे. पहले की मौतें अधिक साहित्यिक मन्थरता लिये जान पड़ती थीं, अब की मौतों में वैज्ञानिक आकस्मिकता है. पहले जीवन धीमे जलता था, धीमे बुझता भी था. अब ज्योति कौंध-सी उठती है और किसी टूटे तारे-सी बीत जाती है. भंगुरता पहले भी रहा करती थी, आदमी पहले भी बुलबुला था. लेकिन अब वह बुलबुलाहट को अधिक देखकर भी कम महसूस करता है. कारण कि विज्ञान बाह्य दर्शन तो करा सकता है, लेकिन उससे आन्तरिक दर्शन तो मनुष्य को स्वयं निर्मित करना पड़ेगा.

पहले जीवन में अँधेरा बहुत था. बाह्य दिखता नहीं था या बहुत कम दिखता था. इसलिए लोगों का सारा ध्यान भीतर देखने की ओर था. जब बाहर आप देख नहीं सकते तब भीतर देखने के सिवा आपके पास केवल अन्धता के वरण का विकल्प है. सो ज्यादातर ने अन्धता ग्रहण की और कुछ भीतर देखने में लग गये.

लेकिन अब बाहर उजाला है. और

बहुत कुछ दीख रहा है. लेकिन बहुत कुछ को देखना अति के कारण दुरूह हो गया है. सो यह नया अन्धापन अतिरेक की चौंध के उपहार-स्वरूप मिला है. और जो थोड़े देख पा रहे हैं, वे थोड़ा बाहर, थोड़ा अन्दर देख रहे हैं. जितना बन पा रहा है, उतने प्रयास के साथ.

बाहर धीरे-धीरे बहुत कुछ और दिखेगा. इतना दिखेगा और इतनी स्पष्टता के साथ दिखेगा कि चौंध और बढ़ेगी. इसीलिए लोगों में अन्धता भी ज्यादा फैलेगी. ऐसे में हमें नये मनीषियों की आवश्यकता पड़ेगी जो पुरानों से बेहतर काम कर सकें. अँधेरे में मशाल लेकर चलना मसीहों और अनुगामियों दोनों के लिए सरल है. लेकिन उजाले के मसीहा को तो प्रकाश में राह दिखानी है, जो सबसे मुश्किल काम है. जब लोग स्वयं को भटका मानेंगे ही नहीं, तब उन्हें सही राह दिखाना सबसे कठिन उद्यम सिद्ध होगा.

स्थूल मृत्यु के भीतर सूक्ष्मता-बहुलता में हमें पहुँचना है और वहाँ कुछ देर ठहरना है. व्यक्ति बाद में मरता है, पहले उसमें कुछ वह मरता जो सूक्ष्म है. उस सूक्ष्मता के एक बार नष्ट होने के बाद वह पुनः वापस नहीं लौटती. यही चेतना का सम्पूर्ण लोप कराती है और व्यक्ति सर्वदा के लिए समाप्त हो जाता है.

विज्ञान ने हमें साढ़े चार सौ सालों पहले पहली बार कोशिका से परिचित कराया. यह भी ध्यान देने की बात है कि रॉबर्ट हुक ने जब कॉर्क के टुकड़े में सर्वप्रथम कोशिकाएँ देखीं, तो वे भी मृत कोशिकाएँ ही थीं. मनुष्य का पहली बार अपनी सूक्ष्मतम जैविक इकाई से परिचय जीवन में नहीं, उसकी मृत्यु के बाद हुआ था. षट्कोणीय आकृतियाँ जो उन कमरों की तरह दिखती थीं, जिनमें साधु-फकीर रहा करते थे. वहीं से कोशिका को अपना बहुप्रचलित नाम 'सेल' मिला है.

हुक की कोशिका-खोज में अद्भुत बातें साथ दिखायी देती हैं. वे एक आर्किटेक्ट थे, घरों की आकृतियों-आकारों के प्रति उनकी दृष्टि साधारण न रही होगी. कॉर्क एक पेड़ होता है, हुक के हाथ वह मरने के बाद लगा. सूक्ष्मदर्शी की सहायता से उन्होंने मृत पेड़ की देह में जीवन की इकाई को पहली बार देखा. पेड़ के शरीर-रूपी महाभवन का उजाड़ कमरा जिसमें अब जीवन की कोई हलचल नहीं बची थी. किसने सोचा होगा कि जीवविज्ञान की सबसे बड़ी खोज इस तरह से कोई भवन-निमार्ता किसी पेड़ के शव के किसी अंश को बारीकी से देखकर करेगा जिसपर जीवन का सम्पूर्ण विज्ञान आगे बढ़ेगा!

कोशिका से मिला परिचय जो तब आरम्भ हुआ, आज तक अनवरत चलता ही जा रहा है. अंगों से पैदा होने वाले लक्षणों से चलते-चलते आज चिकित्सा-विज्ञान कोशिका के द्वार से होते हुए उपकोशिकीय और रासायनीय हो गयी है. जन्तु-विज्ञानी आज-कल कोशिकाओं के भीतर की गतिविधियों का अध्ययन करते हैं; एक प्रकार से कोशिका ही उनके लिए अब सम्पूर्ण जीव हो चली है.

मनुष्य को अपनी इस कोशिकीयता का ऋणी होना चाहिए. कोशिका और उसके भीतर बढ़े/ बढ़ रहे विज्ञान ने ही उसके शरीर के तमाम रहस्य उजागर किये हैं. कोशिका कैसे काम करती है? वह भोजन कैसे ग्रहण करती और कैसे उसे पचाती है? वह श्वास कैसे लेती है? मलत्याग कैसे करती है? उसमें प्रजनन कैसे होता है? और फिर अन्त में, मृत्यु कैसे होती है?

इन सब प्रश्नों को पढ़ने पर ऐसा नहीं लगता कि कोशिका जीव-देह की कोई इकाई है, बल्कि ऐसा जान पड़ता है कि वह स्वयं कोई देह ही है. वह जीव है जो एक भीड़-भरी जगह में रह रहा है. वह अपने जैसी अन्य कोशिकाओं पर आश्रित है, उसका अपना एक कोशिका-समाज है. इसी समाज को आप और मैं मानव कहा करते हैं.

यह कोशिका एकाएक सामजिक नहीं हो गयी. मानव की इस जटिल बहुकोशिकीय देह का निर्माण एकदम से नहीं हो गया. संसार का पहला जीव कोई बहुकोशिकीय समाज के रूप में नहीं, एकाकी कोशिका के रूप में जन्मा था. लेकिन फिर कई ऐसे कारण उत्पन्न हुए, जिन्होंने उन एकाकी कोशिकाओं को पहले आसपास और फिर एक-साथ रहने के लिए प्रेरित किया. जटिलता जीवन की माँग के रूप में आयी, अन्यथा सरलता बहुत कम खचीर्ली होती है.

आम और मैं जब भोजन करते हैं, तो कोशिकाएँ भोजन करती हैं. कुछ भोजन पचाती हैं, कुछ पचे भोज्य-तत्त्वों को हर साथी तक पहुँचाती हैं. जब हम साँस लेते हैं,
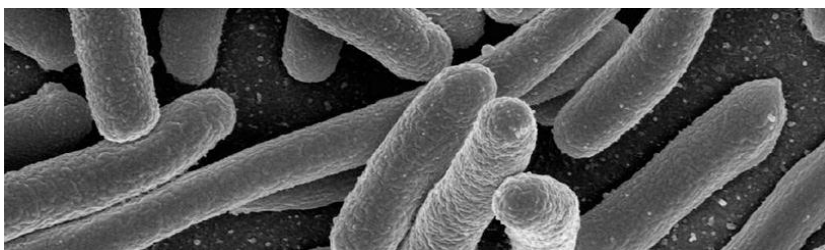
तो हम इन्हीं के लिए साँस लेते हैं. कुछ कोशिकाएँ ऑक्सीजन-कार्बन डायऑक्साइड को आरपार करती हैं, अन्य इन गैसों को अपने हर साथी तक या हर साथी से ढोती हैं. मल-मूत्र का त्याग भी कोशिकाओं की सामूहिक गन्दगी का त्याग है; निस्तारण का जिम्मा जरूर कुछ खास कोशिकाओं ने अपने ऊपर ले लिया है.

फिर प्रजनन क्या है? प्रेम क्या है? प्रेम और प्रजनन का सम्बन्ध क्या है? प्रेम मात्र प्रजनन के लिए है? क्या प्रजनन भी प्रेम को पैदा कर सकता है? इन सब प्रश्नों को अगर मैंने यहाँ स्पर्श करना आरम्भ किया तो जीवन की सुवासित रागभूमि में प्रवेश कर जाऊँगा. लेकिन अभी तो मुझे मृत्यु के निषिद्ध मरुथल में आगे बढ़ना है. तो अभी इतना ही कहा जाए कि प्रजनन भी कोशिकाएँ करती हैं, वे ऐसा करती हैं तभी मैं और आप अस्तित्व पाते हैं.

और तब हम अन्तिम जैविक क्रिया के प्रश्न पर आते हैं कि जीव की मृत्यु भी क्या कोशिकाएँ करती हैं? और अगर जीव की मृत्यु भी कोशिकाओं की मृत्यु है तो किस तरह? क्या सभी कोशिकाएँ व्यक्ति की मृत्यु के साथ मर जाती हैं? क्या मनुष्य की मृत्यु के लिए सभी कोशिकाओं का एकसाथ मरना आवश्यक है? अथवा मानव-देह की मृत्यु की घोषणा के समय उसकी देह की सभी कोशिकाएँ नहीं मरी होतीं, कुछ के आधार पर ही डॉक्टर यह कह सकने, कह देने में में समर्थ हो जाते हैं कि अमुक व्यक्ति अब नहीं रहे, उनका देहान्त हो चुका है.

तो सामने से गुजरी शवयात्रा में मैंने मृतक सज्जन के भीतर सूक्ष्म प्रवेश का निर्णय लिया. वे किस तरह मृत्यु को प्राप्त हुए होंगे, इस पर जितनी जानकारी मुझे मिली है, उसी के साथ मैं-आप आगे बढ़ते हैं.

उन्हें कोई रोग न था, केवल देह की जीर्णता थी. वृद्धावस्था के कारण अंग शिथिल थे, उनकी कार्यक्षमता बहुत घट चुकी थी. जाहिर है अंगों की तमाम कोशिकाओं में भी जीर्णता के परिवर्त्तन हो चुके हों. इन परिवर्त्तनों के कारण कई अनियमितताएँ पैदा होती, हो सकती हैं. हो सकता है कि इन्हीं में से एक हृदय-गति की अनियन्त्रित गतिविधि ने उनके प्राण लिये हों.

हृदय की कुछ विशिष्ट कोशिकाएँ उसमें विद्युत्-प्रवाह के कारण स्पन्दन को जन्म देती हैं. इस स्पन्दन के नियमित क्रम के कारण हृदय रक्त से भरता और फिर उसे बाहर अंगों की ओर प्रवाहित करता है. लेकिन कई बार इस विद्युत्-प्रवाह-क्रम में कोई पैदा

हुई गड़बड़ी हृदय के कामकाज को रोक देती है. न वह ढंग से भर पाता है, न भरकर धड़क पाता है. नतीजन रक्त का प्रवाह अंगों में बहुत क्षीण हो जाता है.

इन्हीं अंगों में सबसे महत्त्व का अंग मस्तिष्क है. वह जो चेतना का केन्द्र तो है ही, सभी अनुभवों-अनुभूतियों-कार्यान्वयनों का कर्त्ता-धर्ता भी है. उस तक कुछ सेकेण्डों के लिए भी रक्त का कम या न पहुँचना उसकी तन्त्रिका-कोशिकाओं को अपूरणीय क्षति दे सकता है. तन्त्रिका-कोशिकाएँ, जिन्हें न्यूरॉन भी कहा जाता है, मरने के बाद अमूमन दोबारा शरीर नहीं बना पाता. नतीजन कोशिका मृत तो कार्य मृत. लेकिन अगर कार्य चेतना को बनाये रखने का हो तो? तो चेतना मृत. और चिन्ता मृत यानी मृत्यु.

जब हम कोशिकाओं की मृत्यु पर चर्चा करते हैं तो हमारे विचार दो बातों का रुख करते हैं. पहली मृत्यु वह है जो कोशिका-जीवन के पूरे होने के बाद होती है. यह नियमित है, इसमें कोई दुर्घटना शामिल नहीं है. लेकिन दूसरी मृत्यु में स्वस्थ कोशिका किसी कारणवश अचानक अकस्मात् अपने प्राणों से हाथ धो बैठती है. पहली मौत से पहले बुढ़ापा है, दूसरी मौत उम्र के किसी क्रम को न मानते हुए कभी भी हो सकती है. तो ऐसे में दोनों पर अलग-अलग ढंग से बात करनी जरूरी हो जाती है.

तो हम कालाधीन कोशिकीय मृत्यु को जानेंगे, अकाल कोशिकीय मृत्यु को भी समझेंगे. लेकिन इन मृत्युओं को समझने से पहले हमें वृद्धावस्था को समझ लेना चाहिए. कोशिका का बुढ़ापा उसके जीवन की साँझ है. और रातें चाहे चाँदनी हों अथवा अँधेरी उनसे पहले सन्ध्या को कुछ देर मन-भर निहार लेना चाहिए. सूर्यास्त होने को है.

वृद्ध सज्जन अब तक अपने संस्कारानुरूप अन्तिम गति को पहुँच चुके होंगे. उनकी कोशिकाओं की सामग्री इसी प्रकृति में खण्ड-खण्ड हो मिल जाएगी, फिर किसी नये जीवन के जन्म और विकास के लिए. संस्कारों-संस्कृतियों के तानों-बानों से परे जीवन का विज्ञान कुछ भी यूज एण्ड थ्रो नहीं करता, वह यूज एण्ड रीयूज करता जाता है.

उनकी मृत्यु हो चुकी है, यह उनके लिए सरल और दुरूह बात, दोनों है.

2.

जामवन्त मन्त्री अति बूढ़ा. सो कि होइ अब समरारूढ़ा..

क्या बुढ़ापे से मृत्यु हो सकती है?-- यह पूछने पर मेरे अधिकतर मित्र, जो चिकित्सकीय पृष्ठभूमि से नहीं हैं, 'हाँ' में उत्तर देते हैं. फिर जब मैं उनसे पूछता हूँ कि केवल बुढ़ापा किसी के प्राण कैसे ले सकता है, तो वे अंगों का काम कम करते-करते बन्द कर देना बताते हैं. फिर जब मैं उनसे यह पूछता हूँ कि केवल वृद्धावस्था से अंग कैसे 'बन्द' हो जाते हैं, तो वे या तो मौन हो जाते हैं और या फिर दार्शनिक शैली में बात करने लगते हैं.

''मुझे वृद्ध नहीं होना है, लेकिन बड़ा होना है''-- बच्चा मम्मी से कहता है. शायद वह शब्दों के घालमेल को अभी समझ नहीं पा रहा. वृद्धि के बिना वृद्धत्व नहीं पाया जा सकता, और वृद्धि में देह-बुद्धि-मन का बड़प्पन सम्मिलित होगा ही. तो बड़े होने में वृद्धि शामिल होगी और वृद्धि को जो पाएगा, वृद्ध भी होगा.

सामने काँच के एक मर्तबान में एक नन्हा प्राणी तैर रहा है. यह बेलनाकार काया वाला है, जिसके एक सिरे पर लगभग आठ पतली रेशेदार भुजाएँ हैं. यह हाइड्रा है. यूनानी पौराणिक सपार्कारी दैत्य हाइड्रा के नाम पर इस जीव को वैज्ञानिकों ने यह नाम दिया. इसके तमाम कार्यकलापों में एक बड़ी महत्त्वपूर्ण बात यह भी है कि हाइड्रा बूढ़ा नहीं होता. इसकी देह की कोशिकाएँ बँट कर, विभाजित होकर अपना पुनर्नवीकरण कर लेती हैं. वे पुरानी नहीं पड़तीं, जिसके कारण हाइड्रा की जीवन-क्रियाएँ शिथिल नहीं पड़तीं. जब शिथिलता नहीं आएगी, तो बुढ़ापा कैसे आएगा; क्योंकि बुढ़ापे के अनिवार्य तत्त्वों में एक अंगों की शिथिलता भी शामिल है.

जीव-जगत् में केवल हाइड्रा ही ऐसा नहीं है, जो जैविक मृत्यु को प्राप्त नहीं होता, अन्य भी कई प्राणी हैं. जेलीफिशें और प्लेनेरियन चपटे कृमि (फ़्लैटवर्म) ऐसे कुछ जीव हैं, जिनके शरीरों की कोशिकाएँ विभाजित होकर नित्य नयी कोशिकाएँ आवश्यकतानुसार बनाती जाती हैं, लेकिन मृत्यु को प्राप्त नहीं होतीं. यानी जरूरत पड़ी तो नयी कोशिका बना ली पुरानी के विभाजन से और इस तरह शरीर नित्य नया बना

हमारे शरीर में नित्य होने वाली कोशिकीय मृत्यु के तीन प्रकार हैंः नेक्रॉसिस, एपॉप्टोसिस एवं ऑटोफेजी. तीनों को सूक्ष्मदर्शी के नीचे एवं अन्य जाँचों से पैथोलॉजिस्ट पहचानते हैं और उनके भिन्न-भिन्न कारण हैं.

रक्त न मिलने, चोट, रसायन, कीटाणु जैसे बाह्य आघातों से कोशिकाएँ बहुधा नेक्रॉसिस प्रदर्शित करते हुए मरती हैं. जबकि एपॉप्टोसिस अपने कुछ जीनों के निर्देश से की जाने वाली कोशिकीय आत्महत्या है. शरीर के विकास के दौरान यह प्रणाली कोशिकाओं में चला करती है. तीसरी मृत्यु ऑटोफेजी में कोशिकाएँ अपने ही किसी हिस्से या अंगक को खाकर नष्ट करती हैं. (ऑटोफेजी का अर्थ ही स्वयं को खाना होता है.)

हृदयाघात हुआ, हृदय-कोशिकाएँ मरी. कैसे? नेक्रॉसिस द्वारा. जलने से व्यक्ति की त्वचा झुलसी. दवा के दुष्प्रभाव से यकृत-कोशिकाएँ मरीं. न्यूमोनिया से फेफड़े की कोशिकाओं की मौत हुई. यहाँ नेक्रॉसिस मिलेगी हमें.

अंगों का भ्रूण और वयस्कों में विकास हुआ. प्रतिरक्षा-तन्त्र विकसित हुआ. कैसे? एपॉप्टोसिस ने साथ निभाया. अनेक रोगों, बुढ़ापे में रोजमर्रा कोशिकाओं को मिलने वाले आघातों में एपॉप्टोसिस और नेक्रॉसिस के साथ ऑटोफेजी भी हुई.

ये तीनों मृत्यु-प्रकार एक साथ भी घट सकते हैं और अलग-अलग भी. कब कोशिका किस तरह से मरेगी, यह वैज्ञानिक जानते हैं. और विस्तार से जानने में वे प्रयासरत भी हैं.

रहा, उसके मरने की नौबत ही नहीं आयी. लेकिन फिर इस नवकोशिका-निर्माण के पीछे एक बात और ध्यान देने योग्य है.

दुनिया के सभी जानवर और पेड़-पौधे अपनी कोशिकाओं की संख्या दो तरह से बढ़ा सकते हैंः अलैंगिक तरीके से और लैंगिक तरीके से. अलैंगिक तरीके से कोशिकाओं में विभाजन हमारे शरीरों में हर दिन, हर पल होता है. बच्चा आकार में बढ़कर युवा होता है, उसकी कोशिकाओं की संख्या जाहिर है, बढ़ती है. यह बढ़ोत्तरी पुरानी कोशिकाओं द्वारा विभाजित होकर नयी बनाने के कारण है. लेकिन फिर ज्यों-ज्यों वय तरुणाई से आगे बढ़ते हुए प्रौढ़ावस्था और वृद्धावस्था में प्रवेश करती है, यह कोशिका-संख्या पहले स्थिर होते हुए फिर घटने लगती है. कारण कि अलैंगिक

कोशिका-विभाजन अब धीमा पड़ जाता है. जो कोशिकाएँ पुरानी पड़ती हैं, वे अब बँटकर नयी कोशिकाओं को जन्म नहीं देतीं.

जब हम मानव-शरीर की कोशिकाओं की बात करते हैं, तो यह ध्यान देने योग्य बात है कि सभी कोशिकाओं में यह बँटवारा एक-सा, एक-समान नहीं होता. माता-पिता के लैंगिक प्रजनन के समय पिता के शुक्राणु के माता के अण्डाणु से मिलने पर जो एक नयी कोशिका बनती है, वह हम हैं.

हमारा एककोशिकीय स्वरूप जायगोट कहलाता है. यह जायगोट बँटता है, बँटता जाता है. हम एक कोशिका से अनेक कोशिकाओं की देह में बढ़ते, बदलते जाते हैं और लगभग नौ माह बाद इस संसार में जन्म पाकर आ जाते हैं.

जायगोट रूपी कोशिका का बँटना और फिर बँटते-बँटते कोशिकाओं का यों बढ़ते जाना जिस प्रक्रिया के अन्तर्गत होता है, उसे विज्ञान माइटोसिस कहता है. यह माइटोसिस हमारे पूरे शरीर में हुआ करती है और इसी के द्वारा एक कोशिका दो में बँटती है, दो चार में, चार आठ में, आठ सोलह में, सोलह बत्तीस में, बत्तीस चौंसठ में.

लेकिन दो अंग अपवाद हैं. स्त्री में मौजूद अण्डाशय और पुरुष में मौजूद वृषण जिसनमें क्रमशः अण्डाणुओं और शुक्राणुओं का निर्माण होता है. यहाँ माइटोसिस नहीं होती, यहाँ मियोसिस होती है. माइटोसिस और मियोसिस में अन्तर क्या है और अण्डाणुओं-शुक्राणुओं के निर्माण के लिए शरीर ने मियोसिस क्यों चुनी, अब इस पर बात करते हैं.

जब एक कोशिका का विखण्डन दो में होता है, तो दरअसल विखण्डन किनका होता है-- यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है. एक पुरानी कोशिका जब दो नयी कोशिकाओं में
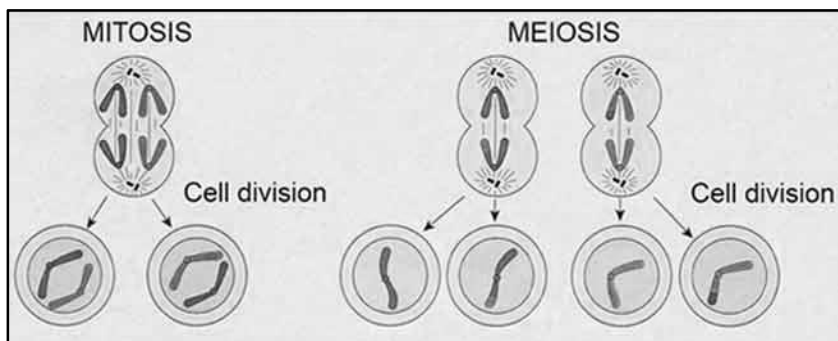
बँटती है, तो उसके भीतर की सारी सामग्री दो हिस्सों में बँट जाती है. यह सामग्री कोशिका के भीतर का कोशिका-द्रव्य है, जिसे सायटोप्लाज्म कहा गया है. इस सायटोप्लाज्म में कोशिका के तमाम अंगक या ऑर्गनेल होते हैं, जो दोनों नयी कोशिकाओं में लगभग आधे-आधे वितरित हो जाते हैं. लेकिन सायटोप्लाज्म के अलावा सबसे महत्त्वपूर्ण बँटवारा पुरानी कोशिका के केन्द्रक या न्यूक्लियस का होता है. कोशिका के न्यूक्लियस में डीएनए होता है, जो जीवन का आधार है. कोशिका के विभाजन के समय यह डीएनए दोनों पुत्री कोशिकाओं में बँटकर पहुँच जाता है.

यह डीएनए बहुत लम्बे सूत्रों के रूप में केन्द्रक (न्यूक्लियस) के भीतर होता है, जिन्हें गुणसूत्र या क्रोमोजोम कहा गया है. अलग-अलग जीवों में मौजूद कोशिकाओं के भीतर गुणसूत्रों की संख्या और आकार अलग-अलग होते हैं. हम सभी मनुष्यों की हर कोशिका में गुणसूत्रों की संख्या 46 है, जिसमें से आधे हमें माता और आधे पिता से प्राप्त हुए हैं.

तो डीएनए से बने गुणसूत्र, जो मौजूद हैं कोशिका के केन्द्रक में. इस डीएनए के बँटवारे के अन्तर के कारण ही मुख्य रूप से माइटोसिस और मियोसिस में अन्तर देखने को मिलता है. माइटोसिस में कोशिकामें गुणसूत्रों का निर्माण करता डीएनए आधा-आधा बँट जाता है. सबसे पहले कोशिका के गुणसूत्र अपनी संख्या दुगुनी करते हैं, यानी छियालीस (46) से बानवे (92). फिर दो कोशिकाएँ बनती हैं और उनके भीतर छियालीस (46) गुणसूत्र ही मौजूद रहते हैं. इस तरह से मनुष्य के शरीर की हर कोशिका अपने भीतर गुणसूत्र-संख्या निश्चित रखती है. इसी तरह माइटोसिस हर जीव में होती है और उसमें नयी कोशिकाओं का जन्म होता है.

आपको कहीं चोट लगती है, घाव भरता है. इस भरते घाव में हो रही नयी कोशिकाओं का निर्माण माइटोसिस से ही होता है. ऊपर हाइड्रा और उस-जैसे अन्य जन्तुओं का स्वयं को पुनर्नवीकृत किये रखना भी माइटोसिस के ही कारण है. यह माइटोसिस कोशिकाओं को बाँट कर उनकी संख्या एक हद तक बढ़ाती जाती है. कब और कैसे यह क्रम रुकता है, इस पर हम वापस लौटेंगे. लेकिन अभी इसी समय मियोसिस पर चर्चा जरूरी है.

मानव-शरीर में दो अंग ऐसे हैं जहाँ नयी कोशिकाओं का जन्म माइटोसिस से नहीं होता. वहाँ गुणसूत्र छियालीस से बानवे नहीं होते, वहाँ वे छियालीस से घटकर आधे

यानी तेईस रह जाते हैं. एक और महत्त्वपूर्ण घटना होती है. मियोसिस की प्रक्रिया के दौरान एक गुणसूत्र का कुछ हिस्सा उसी कोशिका के दूसरे गुणसूत्र से अदल-बदल जाता है. इस अदला-बदली को क्रॉसिंग-ओवर कहा जाता है और यह मियोसिस की खास पहचान है.

क्रॉसिंग-ओवर क्यों होता है? और फिर यह माइटोसिस में क्यों नहीं होता? इसका कारण यह है कि माइटोसिस में कोशिका के विभाजन के बाद जन्मी कोशिकाओं में शरीर को विविधता की उतनी आवश्यकता नहीं होती, जितनी मियोसिस के बाद होती है. माइटोसिस में जन्मी कोशिकाएँ अपनी माता कोशिका की ही प्रतिलिपि होती हैं. एक त्वचा की फाइब्रोब्लास्ट कोशिका अगर दो में बँटती है, तो वे दोनों नयी कोशिकाएँ पुरानी-सी ही होती हैं. लेकिन मियोसिस की प्रक्रिया से अण्डाणु और शुक्राणु बनते हैं. यहाँ शरीर को विविधता की दरकार अधिक है. जितने विविध अण्डाणु-शुक्राणु होंगे, उतनी विविधता उनके मेल से बनने वाली सन्तान में होगी. यह विविधता आवश्यक है क्योंकि यह जीव की वंशवृद्धि में विकास को सुनिश्चित करती है. एक-सी सन्तानें पैदा करना और करते जाना पर्यावरण के साथ वैसा तालमेल नहीं बिठा पाता, जैसा विविध सन्तानोत्पत्ति बिठा पाती है.

माँ और बाप का मिलकर एक सन्तान को जन्म देना, अपनी कोशिकाओं को बढ़ाने का ही प्रयास है. बच्चा, जो थोड़ा मम्मी-सा, थोड़ा पापा-सा. उसकी कोशिकाएँ जो थोड़ी मम्मी-सी, थोड़ी पापा-सी. लेकिन फिर मियोसिस में हुआ क्रॉसिंग-ओवर ऐसी व्यवस्था बनाता है कि बच्चा नये तरह के गुणसूत्र लेकर पैदा हो. ऐसे गुणसूत्र जो न हू-ब-हू माँ के पास हों और न पिता के पास.

माइटोसिस और मियोसिस से यह परिचय करने के बाद हमें डीएनए-आरएनए-जीन-गुणसूत्र-सम्बन्धी कुछ बातें जान लेनी जरूरी हैं. जब जीवन का जन्म और विकास इनके बिना नहीं समझता जा सकता, तो वृद्धावस्था और मृत्यु कैसे समझी जा सकती हैं.

गुणसूत्र डीएनए से बनते हैं, यह हम जान चुके हैं. लेकिन ये केवल डीएनए से नहीं बनते, बल्कि इनके निर्माण के समय यह डीएनए हिस्टोन नाम की प्रोटीनों के साथ खास अन्दाज में लिपटा रहता है. हिस्टोनों से लिपटे डीएनए को विज्ञान क्रोमैटिन के नाम से जानता है. जब कोशिका विभाजित नहीं हो रही होती है, तब यह क्रोमैटिन

केन्द्रक के भीतर ढीला-ढाला रहता है लेकिन जब कोशिका विभाजन के लिए तैयार हो जाती है, जब यह कसावट के साथ गुणसूत्रों का रूप ले लेता है. यही कारण है कि गुणसूत्र कोशिकाओं के भीतर हमेशा नजर नहीं आते. जब कोशिका विभाजन के लिए तैयार होती है, तभी इन्हें सूक्ष्मदर्शी के नीचे देखा जा सकता है.

इस क्रोमैटिन के भी केन्द्रक के भीतर दो प्रकार होते हैं, यानी हिस्टोन प्रोटीनों से लिपटा डीएनए दो प्रकार के स्वरूपों में पाया जा सकता है. पहला स्वरूप यूक्रोमैटिन है जो केन्द्रक में किनारों के सिवा हर जगह छितरा रहता है और एक ढीलापन होता है. दूसरा स्वरूप हेटेरोक्रोमैटिन है जो केन्द्रक के किनारों पर पाया जाता है अथवा बीच-बीच में घने रूप में उपस्थित रहता है. दोनों क्रोमैटिनों में अन्तर डीएनए-हिस्टोन-पैकेजिंग के आधार पर ही होता है; इसी कारण दोनों के स्वरूपों में भिन्नता नजर आती है और सूक्ष्मदर्शी के नीचे रँग कर देखने पर यूक्रोमैटिन हल्के और हेटेरोक्रोमैटिन गाढ़े रंग का नजर आता है.

गुणसूत्र के अलग-अलग हिस्सों में यूक्रोमैटिन और हेटेरोक्रोमैटिन की स्थिति अलग-अलग होती है. गुणसूत्र धागों की तरह होते हैं, जिनके बीच में एक सेंट्रोमीयर नामक गाँठनुमा संरचना होती है. इस संरचना पर गुणसूत्र की एक लम्बी और एक छोटी भुजा आकर मिलती हैं, जिन्हें क्रोमैटिड कहते हैं. क्रोमैटिडों में पाया जाने वाला लगभग सभी क्रोमैटिन यूक्रोमैटिन होता है; बस उनके सिरों पर और सेंट्रोमीयर का निर्माण हेटेरोक्रोमैटिन से होता है. गुणसूत्रों के क्रोमैटिडों के सिरे टीलोमीयर कहलाते हैं

और इनका वृद्धावस्था को समझने में बड़ा महत्त्व है.

जब कोशिका-विभाजन के समय गुणसूत्र अपनी प्रति बनाकर बँटते हैं, तो यह प्रति-निर्माण पूरे गुणसूत्र का नहीं होता. यानी नयी कोशिका में विभाजन के फलस्वरूप आये गुणसूत्रों में मातृ-कोशिका की तुलना में टीलोमीयर थोड़े छोटे होते हैं. ऐसा इसलिए होता है कि कोशिका-विभाजन के समय पूरे टीलोमीयर की प्रति नहीं बनायी गयी. कोशिकाएँ बँटती जाती हैं, टीलोमीयर छोटे होते जाते हैं. और अन्त में ये इतने छोटे हो जाते हैं, कि कोशिका अब आगे विभाजित होना बन्द कर देती है. अर्थात् घटते-घटते टीलोमीयर का बहुत लघु हो जाना, कोशिका-विभाजन को रोक देता है. कोशिका-विभाजन का इस तरह रुक जाना, कोशिकीय जीर्णता या सेल्युलर स्नीसेन्स कहलाता है.

जो अभी बूढ़ा नहीं हुआ है, वह बँटेगा. बँटना-बाँटना ही प्रजनन का मूल है. जो प्रजनन नहीं कर सकता, स्वयं को बाँट नहीं सकता, वह सम्पूर्ण वृद्धि को प्राप्त हो चुका है. वह अब एक अर्थ में नयी पीढ़ियाँ नहीं ला रहा है, थम गया है. टीलोमीयरों का लम्बाई का घटते जाना, कोशिका के इसी प्रजनन के रुक जाने का इशारा है. कोई कोशिका बँटते-बँटते जब आगे नहीं बँटती, तो उसे वैज्ञानिक उस कोशिका की हेफ़्लिक-सीमा या लिमिट कहते हैं.

हेफ़्लिक-सीमा की खोज अमेरिकी वैज्ञानिक लियोनार्ड हेफ़्लिक ने सन् 1961 में की थी. उन्होंने पाया कि मानव भ्रूणीय कोशिकाएँ 40-60 बार विभाजित होती हैं और फिर उनका विभाजन थम जाता है. विभाजन रुकने के बाद ये कोशिकाएँ जीर्ण या 'बूढ़ी' हो जाती हैं. ऐसा इसलिए होता है क्योंकि 40-60 बार विभाजन के बाद इन कोशिकाओं के टीलोमीयर बहुत छोटे हो जाते हैं. यह एक क्रान्तिकारी खोज थी, क्योंकि इसके पहले यह माना जाता था कि कोशिकाएँ अगर सही परिस्थितियाँ पाएँ, तो लगातार विभाजित होती रह सकती हैं.

फ़्रांसीसी सर्जन-वैज्ञानिक अलेक्सिस कैरेल का मत था कि शरीर की कोशिकाएँ किसी कृत्रिम कल्चर-माध्यम में लगातार विभाजित होती रहेंगी, कभी नहीं रुकेंगी. एक प्रकार से यह कोशिकीय अमरत्व की बात थी. उन्होंने इस बात को अपने प्रयोगों के माध्यम से कर के भी दिखाया उनका मानना था कि कोशिकीय विभाजन का एक सीमा के बाद रुक जाना कोशिकाओं के कारण, नहीं, बल्कि माध्यम में आयी कमी के कारण होता है.

कोशिका के विभाजन के समय गुणसूत्रों का डीएनए दोगुना होता है, यह हम जान चुके हैं. इस काम को कोशिका के भीतर मौजूद कुछ खास एन्जाइम अंजाम देते हैं. टीलोमीयरों के डीएनए को जो एन्जाइम दोगुना करता है, वह टीलोमेरेज कहलाता है. हर कोशिका-विभाजन के समय टीलोमेरेज टीलोमीयर की प्रति नहीं बनाता, कुछ हिस्से को छोड़ता जाता है. इसी कारण हर कोशिका-विभाजन के बाद कोशिका के गुणसूत्रों में टीलोमीयर आकार में छोटे होते जाते हैं. फिर जब कोशिका हेफ़्लिक-सीमा पर पहुँचती है, तो उसके टीलोमीयर बहुत छोटे हो जाते हैं और टीलोमेरेज अब उसकी प्रति नहीं बनाता. यही अवस्था कोशिकीय जीर्णता की शुरूआत है. टीलोमीयरों का कोशिका-विभाजन और कोशिकीय जीर्णता से यह सम्बन्ध कैंसरों के मामले में हमें महत्त्वपूर्ण ज्ञान देता है. कैंसर-कोशिकाएँ अनन्तकाल तक विभाजन कर सकती हैं;

कैरेल कहां चूके?

बीसवीं सदी के आरम्भ में कोशिकाओं के विषय में यह मत था कि वे लगातार बिना रुके बँटती जा सकती हैं. फ्रांसीसी सर्जन-वैज्ञानिक अलेक्सिस कैरेल के कारण इस मत को विशेष बल मिला. उन्होंने चूजे के हृदय की फाइब्रोब्लास्ट कोशिकाओं को उनके कल्चर-माध्यम में कृत्रिम रूप से उगाया. सही पर्यावरण मिलने से कोशिकाएँ निरन्तर बीस सालों तक विभाजित होती रहीं. यह अवधि मुर्गियों की जीवन-अवधि से भी बहुत ज्यादा है.

यद्यपि कैरेल के इस प्रयोग को बहुत ख्याति मिली, लेकिन अन्य वैज्ञानिक इसे दोहरा नहीं सके. बाद में अमेरिकी वैज्ञानिक लियोनार्ड हेफ़्लिक और पॉल मूरहेड ने यह सिद्ध किया कि कोशिकाएँ सही माध्यम और परिस्थितियाँ पाने के बाद भी अनन्त काल तक नहीं बढ़तीं, वे एक सीमा के बाद विभाजन बन्द कर देती हैं. आज इस सीमा को हेफ़्लिक के नाम पर विज्ञान हेफ़्लिक-सीमा कहता है.

लेकिन फिर कैरेल ने यह कैसे सिद्ध किया जो अन्य वैज्ञानिक न सिद्ध कर सके? ऐसा सम्भव है कि उन्होंने कल्चर-माध्यम में पाली जा रही, फाइब्रोब्लास्ट कोशिकाओं को भोजन देते समय कुछ नयी कोशिकाएँ भी जाने-अनजाने डाल दी हों. इस तरह से पुरानी कोशिकाएँ मरी तो हों, लेकिन उनका स्थान नयी वालियों ने ले लिया हो और इस तरह से कोशिकीय अमरता का भ्रम हो गया हो. अथवा यह भी हो सकता है कि उन्होंने ऐसा जानकर किया हो.

उनके टीलोमीयर हर विभाजन के बाद छोटे नहीं होते. कैंसर की कोशिकाओं में, जाहिर है, टीलोमेरेज की गतिविधि किसी हेफ़्लिक-सीमा को नहीं मानती. वे अन्धाधुन्ध विभाजित होते जाते हैं और इस तरह से पूरे शरीर में फैल जाते हैं.

सामान्य कोशिका के विभाजन का हेफ़्लेक-सीमा के बाद रुक जाना और कैंसर-कोशिका का न रुकना चिकित्सा-विज्ञान को शोध के अवसर देता है. ऐसी दवाएँ विकसित की जाएँ, जो कैंसर-कोशिकाओं के टीलोमेरेज को काम करने से रोक दें ताकि उनके टीलोमीयर छोटे होने लगें और फिर आगे जाकर कोशिका-विभाजन रुक जाए. ऐसी कोशिकाएँ या ऐसे टीके बनाये जाएँ, जो टीलोमीयर-धारी कैंसर-कोशिकाओं को ही मारें, साधारण सामान्य कोशिकाओं को नहीं. इन पर काम जारी है और हो सकता है कि आगे इनका व्यावहारिक उपचार में प्रयोग किया जाने लगे.

मगर हेफ़्लेक-सीमा और उसके पार हो चुकी इन जीर्ण कोशिकाओं में विभाजन भले रुक चुका हो, अन्य कार्यकलाप लगभग सामान्य रूप से चलते रहते हैं. तो ऐसे में वैज्ञानिक इन कोशिकाओं को प्रयोगशालाओं में कैसे पहचानते हैं?

कुछ खास तकनीकें हैं जो इन जीर्ण कोशिकाओं को चिह्नित करने का काम करती हैं. इन कोशिकाओं के भीतर एक एन्जाइम स्नीसेन्स-असोशियेटेड बीटा-गैलैक्टोसिडेज की मात्रा भी बढ़ जाती है. ये अपनी सतह पर कई ऐसे अणु प्रस्तुत करती हैं, जिनके कारण इन्हें पहचान कर प्रतिरक्षा-तन्त्र की कोशिकाएँ इनके विरोध में सक्रिय हो जाती हैं. साथ ही इनके भीतर केन्द्रकों में हेटेरोक्रोमैटिन के कई नन्हें विशिष्ट जमावड़े बन जाते हैं, जिन्हें स्नीसेन्स-असोशियेटेड-हेटेरोक्रोमैटिन फोसाई कहा जाता है. इसी तरह कुछ डीएनए के विकृत टुकड़े भी मिलते हैं, जिन्हें डीएनए सेग्मेंट्स विद क्रोमैटिन ऑल्टरेशंस रीइंफोर्सिंग स्नीसेन्स कहा जाता है.

कोशिका की उम्र बताने के वैज्ञानिकों ने एक डीएनए-घड़ियों का भी निर्माण किया है. अमेरिकी आनुवंशिक-विज्ञानी स्टीव हॉरवथ द्वारा विकसित यह पद्धति डीएनए का मेथिलेशन नापती है. इसे इपिजेनेटिक घड़ी भी कहा जाता है. इपिजेनेटिक्स का क्या अर्थ है, यह समझकर हम इस घड़ी की भूमिका को बेहतर समझ सकेंगे.

कोशिकाओं के केन्द्रकों में डीएनए होता है, जिससे जीन बनते हैं. जीनों के इस डीएनए से पहले आरएनए का निर्माण होता है. फिर इस आरएनए की सहायता से प्रोटीन बनते हैं, जो तमाम काम करते हैं. डीएनए का निर्माण डिऑक्सीराइबोज नामक

शर्करा, फॉस्फेट समूहों और नाइट्रोजनीय क्षारों से मिलकर होता है. ये नाइट्रोजनीय क्षार चार प्रकार के हो सकते हैं और इनके नाम एडिनीन, गुआनीन, सायटोसीन और थायमीन हैं. मानव-डीएनए एक दो सूत्रों की परस्पर जुड़ी शृंखला के रूप में होता है, जहाँ एक के एडिनीन से दूसरे का थायमीन और एक के गुआनीन से दूसरे का सायटोसीन जुड़ता है. डीएनए के सूत्र पर ये नाइट्रोजन क्षार एक शृंखलाबद्ध ढंग से लगे रहते हैं. यह शृंखला नियत-निश्चित हैः जिस क्रम में ये नाइट्रोजन क्षार लगे हैं, उसी क्रम में लगे होने के कारण वे जीनों का निर्माण कर रहे हैं. अगर नाइट्रोजन क्षारों का क्रम ऊपर-नीचे हो जाएगा, तो जीन भी बदल जाएगा. जीन बदलेगा तो पुराने की जगह नया आरएनए बनेगा. फिर नये आरएनए से नये प्रोटीन का निर्माण होगा.

इपिजेनेटिक बदलावों में जीन बनाने वाले डीएनए के नाइट्रोजन क्षारों के क्रम में बदलाव नहीं होते. बल्कि कई रासायनिक समूह इन क्षारों से जुड़ जाते हैं. ऐसा ही एक समूह मिथाइल समूह है. इन क्षारों से मिथाइल समूह के जुड़ने को मेथिलेशन कहा जाता है. कोशिका के जन्म के बाद उसके विभाजन के साथ उसमें डीएनए-मेथिलेशन बढ़ता जाता है और होरवथ-घड़ी इसी बढ़ते मेथिलेशन को नापती है.

इपिजेनेटिक होरवथ-घड़ी कोशिकीय जीर्णता से कितनी एकरूपता रखती है? क्या इस घड़ी से पाया गया बढ़ता मेथिलेशन शरीर के हर अंग की हर कोशिका के बुढ़ापे को हमेशा ठीक से दशार्ता है? क्या इस इपिजेनेटिक घड़ी का कोशिकीय जीर्णता के अन्य मापकों से पूरा-पूरा तालमेल है? कहीं ऐसा तो नहीं कि किसी तरीके से हमें कोशिका की उम्र कुछ मालूम देती है और किसी और तरीके से कुछ और?

इन प्रश्नों के उत्तर अभी और बेहतर और ठोस पाने में विज्ञान शोधरत है. तमाम प्रयोगशालाओं में शरीर के अनेकानेक अंगों की कोशिकाओं के बुढ़ापे पर प्रयोग चल रहे हैं. कोशिकाओं के बुढ़ापे की पहचानें चिह्नित की जा रही हैं और उन पहचानों के बीच तालमेल को भी समझा जा रहा है.

इन तमाम कोशिकीय जीर्णता-मापकों को समझते हुए हम कई बातें सोच सकते हैं. क्या कोशिका का बुढ़ापा हमें जीव का बुढ़ापा समझा सकता है? समझा सकता है तो किस हद तक? क्या एक बूढ़ा व्यक्ति मात्र बूढ़ी कोशिकाओं का समूह है या कुछ और? क्या वृद्धावस्था के कोशिकीय मापक हर जीव-जन्तु-पेड़-पौधे के लिए एक-से होंगे? अगर उनमें भिन्नताएँ हैं तो कितनी और कौन सी? वे क्या-क्या बातें हैं, जो चूहे

को बहुत जल्दी, मनुष्य को देर में और कछुए को बहुत-देर में बूढ़ा करती हैं? एक ही प्रजाति के सभी जीव भी एक ही बराबर आयु जी कर नहीं मरतेः किस तरह से आयुपूर्ति में अलग-अलग जीवों के जींस और पर्यावरण भूमिका निभाते हैं?

बुढ़ापा कोशिकाओं का बुढ़ापा है, तो किस-किस तरह से? बूढ़ी देह में बूढ़ी कोशिकाएँ-भर ही नहीं होतीं, जो प्रजनन करना बन्द कर चुकी होती हों. उनके बीच शिथिल तालमेल होता है, उनका शिथिल कार्यकलाप होता है, उनमें वृद्धावस्था-जन्य रोग लगे होते हैं. मृत्यु तक जाता झुर्रियों का जाल बहुत-बहुत जटिल है, लेकिन एक दिन हम उसे विज्ञान-द्वारा सुलझा ही लेंगे.

वृद्धि में एक जटिलता है, यह जटिलता कोशिकाओं के तालमेल की जटिलता है. कोशिकाओं के भीतर, बाहर और परस्पर वातावरण नित्य बदल रहा है. जब यह वातावरण कार्य-कुशलता में क्षीण होने लगता है, उसमें चूकें होने लगती हैं और वह बार-बार अटकने थमने लगता है, तो प्रकति ही किसी बाहरी-भीतरी कारक द्वारा उसे रोक देती है. इसी कोशिकीय कार्यान्वयन का सदा के लिए थम जाना मृत्यु है.

हेफ़्लिक-सीमा तक पहुँच जाना कोशिकीय जीर्णता की एक पहचान हो सकती है, लेकिन इसका सम्पूर्ण जीव की जीर्णता से कितना सम्बन्ध है, यह अभी शोध का विषय है. हाइड्रा व प्लेनेरियन चपटे कृमियों-जैसे जीव जिनकी कोशिकाएँ नित्य टीलोमीयरों की लम्बाई बनाये रखती हैं, कभी बूढ़े नहीं होते. वे अपनी कोशिकाओं का ज़रूरत के अनुसार विभाजन कर लिया करते हैं. लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि उनकी किसी दुर्घटना में मृत्यु नहीं हो सकती. हाइड्रा ताप व प्रतिकूल रसायनों की भेंट चढ़ सकता है, उसकी इहलीला किसी रोग या दूसरे जीव द्वारा खा लेने से समाप्त हो सकती है.

संसार का हर जीव-जन्तु और पेड़-पौधा अपने भीतर की कोशिकाओं में मौजूद डीएनए से बने जीनों और अपने भीतर-बाहर के पर्यावरणों का परिणाम है. जीनों में पर्यावरण के कारण परिवर्तन हो सकते हैं, होते रहे हैं. जीनों के अलावा इपिजेनेटिक परिवर्तनों की हम बात अभी-अभी कर ही चुके हैं. इन परिवर्तनों के कारण सभी जीव-जन्तु-पेड़-पौधे प्रोटीन-निर्माण में बदलाव कर सकते हैं. नये प्रोटीन अब शरीर में नये तरीके से काम करते हैं.

बढ़ती उम्र के साथ सभी बूढ़े होते जीवों के जीनों और उनसे बनने वाले प्रोटीनों में बदलाव देखने को मिलते हैं. तमाम लाभप्रद रसायनों की मात्रा घटती और हानिप्रद

जीव की जीर्णता तो लेकर वैज्ञानिकों ने तरह-तरह के सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं और उनके पक्ष में प्रयोगों को भी प्रस्तुत किया है. इन सभी सिद्धान्तों को मुख्य रूप से दो भागों में विभाजित किया जा सकता हैः प्रोग्राम्ड सिद्धान्त और एरर सिद्धान्त. आगे हम इन दोनों सिद्धान्त-समूहों को समझने का थोड़े विस्तार से प्रयास करते हैं.

प्रोग्राम्ड सिद्धान्त के अन्तर्गत यह धारणा चलती है कि जीव-देह एक प्रोग्राम की तरह है. जिस तरह से कम्प्यूटर में एक प्रोग्राम होता है, उसी तरह देह-रूपी कम्प्यूटर में भी एक प्रोग्राम होता है. इस प्रोग्राम में बिलियनों कोशिकाएँ हैं, उनके भीतर अन्तर्गत असंख्य जीन हैं. वृद्धावस्था का निर्धारण कुछ जीनों के ऑन होकर प्रोटीन-निर्माण करने और कुछ का ऑफ होकर प्रोटीन-निर्माण न करने से होता है. देहधारियों के भीतर चलती तमाम रसायनों और रासायनिक क्रियाओं का भी एक नियत कार्यकाल है. उसके बाद इन सभी में संरचनात्मक-कार्यात्मक त्रुटियाँ आने लगती हैं, जिसके फल बुढ़ापा है. हमारी देहों में तरह-तरह की अलार्मवाली जैविक घड़ियाँ लगी हुई हैंः 'समय' हो जाने पर ये एक-एक करके बजती हैं और बताती हैं कि हम बूढ़े हो गये.

लेकिन फिर दूसरा सिद्धान्त एरर या त्रुटियों की बात करता है और प्रोग्राम या घड़ी-जैसी धारणा को नकारता है. मानव या कोई भी जीव निश्चित समय लेकर नहीं जन्मता, लेकिन जन्म के बाद उसका सामना इतने तरह के पर्यावरणीय आघातों से होता है कि वह बूढ़ा हो जाता है. त्रुटियाँ जो मिलकर बुढ़ापे को परिभाषित करती हैं, भीतर नहीं बाहर से पैदा की जाती हैं.

रसायनों की मात्रा बढ़ने लगती है. उम्र बढ़ने के साथ कई ऐसे अवांच्छित प्रोटीन भी बूढ़ी देहों में एकत्रित होने लगते हैं, जो अपने होने के कारण अंगों कार्यक्षमता को प्रभावित करने लगते हैं. इन जीनों और उनसे बनते प्रोटीनों का एक पर्यावरणीय पहलू भी है. बढ़ती उम्र के कारण तमाम बाहरी-भीतरी रसायनों और विकिरणों के कारण डीएनए में कई ऐसे परिवर्तन होते हैं, जो वृद्धावस्था की पहचान बन जाते हैं.

2013 में वैज्ञानिकों ने नौ ऐसे बदलावों की सूची तैयार की, जो जीवों में बुढ़ापे को चिह्नित करते हैंः जीनोम में असन्तुलन, टीलोमीयरों का छोटा होना, इपिजेनेटिक बदलाव, प्रोटियोस्टैसिस में त्रुटियाँ, मायटोकॉण्ड्रिया में कमियाँ, कोशिकीय जीर्णता, कोशिकाओं में घटता संवाद, आहार की गिरती पहचान व स्टेम कोशिकाओं की कमी.

3.

आदमी
मरने के बाद
कुछ नहीं सोचता.
आदमी
मरने के बाद
कुछ नहीं बोलता.
कुछ नहीं सोचने
और कुछ नहीं बोलने पर
आदमी
मर जाता है.

– उदयप्रकाश

मृत्यु की परिभाषा के फेर में फँसना बहुत जोखिम-भरा काम है. आदिकाल से इस काम को धर्मगुरु, दार्शनिक, साहित्यकार और फिर वैज्ञानिक करते रहे हैं. इक्कीसवीं सदी में जब हम अंग प्रत्यारोपण, कृत्रिम बुद्धिमत्ता और नैनो-तकनीकी के नये-नये मुकाम हासिल कर रहे हैं, तब मृत्यु की परिभाषा और भी हमें मुँह चिढ़ा रही है. जितना हम जीने में सफलतर होते जा रहे हैं, मृत्यु को परिभाषित करना हमारे लिए जटिलतर होता जा रहा है.

एक चिकित्सक के तौर पर कहूँ तो किसी को मृत घोषित करना बहुत दयनीय और दुखद उत्तरदायित्व का क्षण होता है. अस्पतालों में न जाने कितने ही लोगों को मृत बताया है, उनके मृत्यु-प्रमाण-पत्र बनाये हैं. बावजूद इसके मृत्यु के बारे में नित्य नया जानने-सीखने-पढ़ने को मिलता रहा हैः सूक्ष्म और स्थूल, दोनों स्तरों पर. दूसरी ओर आम व्यक्ति जो विज्ञान से अपरिचित है और उसके अनुसार न जीवनवृत्ति को समझता है और न मृत्यु को, वह जन्म और मृत्यु दोनों को ऑन-ऑफ जैसी घटनाएँ समझता है.

हृदयगति रुकी, व्यक्ति मर गया. एक्सीडेंट हुआ, प्राण चले गये. दम घुँटा, इहलीला समाप्त हो गयी. लेकिन मामला इतना ही सरल होता, तो फिर बात ही क्या थी.

मरना एक प्रक्रिया है, घटना नहीं- इसे समझना होगा. यह बात दार्शनिक अंदाज में नहीं कह रहा, एकदम कट-टू-कट विज्ञान की भाषा में बता रहा हूँ. कई तरह की मृत्युएँ हैं, कई तरह से उन्हें डॉक्टर और वैज्ञानिक परिभाषित करते हैं. समाज जिस/जिन मृत्यु/मृत्युओं को मृत्यु मानता है, वह बहुधा एक या दो प्रकार की ही होती हैं. साँसें रुक गयी हैं? व्यक्ति मर गया है. हृदय की धड़कन देखो जरा. कान लगाओ छाती पर, नब्ज टटोलो. नहीं मिली? यह मृत है. हिलता-डुलता नहीं? ही इज नो मोर!

जड़ हो जाना, साँस न लेना और धड़कन रुक जाना कुछ दशकों तक मृत कहा जाने के लिए पर्याप्त जानकारियाँ थीं. लेकिन फिर कृत्रिम जीवन-सपोर्ट की मशीनें आयीं. उन्होंने अस्पताल में भर्ती मरीजों को साँसें बाहर से देना शुरू कर दिया. दिल को धड़कता बनाये रखा. जब उसे ऑक्सीजन मिलती रहेगी, तो वह धड़कता रहेगा. नहीं रुकेगा. शरीर-भर में खून फेंकता रहेगा. लेकिन यह व्यक्ति फिर भी मरा कहा जाने लगा डॉक्टरों द्वारा. कारण कि इसका मस्तिष्क मर चुका था. कृत्रिम लाइफ-सपोर्ट की वजह से यह ब्रेन-डेथ का कॉन्सेप्ट समाज में विज्ञान को लाना पड़ा.

और फिर अंग-प्रत्यारोपण भी तो होने लगे! किसी व्यक्ति ने अपनी वसीयत में अंगदान की मृत्युपरान्त इच्छा जतायी. जब मर जाऊँ, तो मेरे गुर्दे, यकृत और हृदय दान के लिए निकाल लेना, किसी जरूरतमन्द के काम आएँगे. ऐसे में 'जब मर जाऊँ' कैसे तय हो? केवल नब्ज महसूस करके या साँसें देखकर तो बात नहीं बन सकती थी न!

महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मस्तिष्क शरीर के अन्य अंगों का नियन्त्रक है. सभी अंग मस्तिष्क से तन्त्रिकाओं के रूप में निर्देश तो पाते हैं, मगर कई मामलों में वे स्वतन्त्र या ऑटोनॉमस भी होते हैं. ऐसे में किसी व्यक्ति के मस्तिष्क के नष्ट होने पर ये अंग कई बार कुछ देर बिना सहयोग के अथवा यान्त्रिक सहयोग के साथ काफी देर तक काम करते रहते हैं. ऐसे में व्यक्ति को मृत घोषित करने में दुविधा होना लाजिमी बात है.

किसी व्यक्ति की हृदयगति थम गयी. थमी रही. ऐसे में सबसे पहले वे अंग मरेंगे,

जिन्हें ऑक्सीजन देना शरीर की प्राथमिकता है. मस्तिष्क सबसे संवेदनशील है. उसके भी कुछ खास हिस्से सर्वाधिक संवेदनशील हैं. वे सबसे पहले दम तोड़ेंगे. फिर बारी शेष मस्तिष्क की आएगी. फिर अन्य अंग. ऐसे में जब व्यक्ति का मस्तिष्क मरेगा, तो उसी समय उसका यकृत, उसकी मांसपेशियाँ नहीं मरेंगी. सभी की ऑक्सीजन-आवश्यकता अलग-अलग है; सभी अलग-अलग समय में मरेंगे.

किसी भी मानव-अंग का मरना क्या है? अंग जब काम करना बन्द कर दे, तो उसे मृत कहा जा सकता है. लेकिन अंग स्वयं तमाम ऊतकों से, ढेर सारी कोशिकाओं से बने हैं. तो ऐसे में अंग की मृत्यु के लिए कोई जरूरी नहीं कि सारी या अधिसंख्य कोशिकाओं की मृत्यु हो ही. बस इतनी त्रुटियाँ उसके भीतर आ जाएँ कि वह समुचित रूप से अपना काम करने में अक्षम हो जाए. इतने पर उसे मृत कहा जाने लगेगा. किसी अंग का काम करना या न करना भी कोई ऑन-ऑफ जैसी घटना बहुधा नहीं होती. कई बार अंग शनैः शनैः खराब होते जाते हैं, तो कई बार अचानक कोई खराबी आती है और वे काम करना बन्द कर देते हैं.

कोशिकाएँ जब मरने लगती हैं और मर जाती हैं, तो उनमें अनेक खास बदलाव होते हैं. ये बदलाव पैथोलॉजिस्ट के काम के हैं, किन्तु आम व्यक्ति को उनसे सरोकार नहीं. लेकिन यही कोशिकीय मृत्यु जब एक ऐसा खास मृत समूह बना ले कि व्यक्ति किसी भी मस्तिष्कीय कार्यकलाप में अक्षम हो जाए, तो इसे मस्तिष्क की मृत्यु के साथ व्यक्ति की मृत्यु भी मान लिया जाता है.

ब्रेन-डेथ का अर्थ केवल ब्रेन की डेथ नहीं है. बेन-डेथ का मतलब है कि सम्पूर्ण ब्रेन के सदा के लिए कार्यहीन हो जाने के कारण व्यक्ति का मृत हो जाना, चाहे अन्य अंग काम क्यों न करते रहें.

4.

मृत्युओं को समझने की प्रक्रिया में पहला काम फेफड़ों व हृदय एवं उनकी गतियों को समझना है. लगातार बाहर-भीतर चलती छाती और दिल और उसकी ताउम्र धड़कती धड़कनों को बूझने से मौत को बूझने का ककहरा शुरू होता है.

जब किसी महान् व्यक्ति की मृत्यु की घोषणा की जाती है, तो समाचार उनकी 'अन्तिम साँसों' का आता है. श्री अमुक जी ने अमुक अस्पताल में इतने बजकर इतने मिनट पर अन्तिम साँस ली. लेकिन जिस समय श्री अमुक जी को अन्तिम साँस आयी, क्या उसी क्षण वे मृत्यु को प्राप्त हो गये? अथवा अन्तिम साँस आने के बाद कुछ सेकेण्डों-मिनटों तक उनका मस्तिष्क सक्रिय रहा और फिर धीरे-धीरे ऑक्सीजन न मिलने से उसकी कोशिकाएँ मरती चली गयीं?

लोग मरने को 'एक्सपायर होना' कहते हैं. वे प्राणों को पखेरू की तरह उड़ता कल्पित करते हैं. साँसों की आवाजाही ही ऐसे शब्दावलियों और कल्पनाओं के मूल में है. साँस हवा है और हवा का आना-जाना ही जीवन की पहचान. साँस के रूप में समझा जाता प्राण शरीर छोड़कर निकल गया. हवा ने आवागमन बन्द किया, व्यक्ति का प्राणान्त हुआ. दूसरी ओर मजबूत बन्दों में 'दम' पाया गया और वही 'दम' जब घुँटा, तो बन्दा मर गया.

मस्तिष्क साँसों को किस हद तक नियन्त्रित कर सकता है? क्या हम-आप सोच कर साँस लेते हैं. नहीं. लेकिन जब चाहें, तो भीतर साँस खींच सकते हैं. कुछ देर तक साँस रोक भी सकते हैं. सिर्फ कुछ देर तक. फिर मस्तिष्क का वह हिस्सा जो हमारी इच्छाशक्ति से इतर कार्य करता है, साँस भीतर लेने को कहता है और साँस फेफड़ों में भर जाती है. इन बातों से कुछ बातें सामने आती हैंः पहली मस्तिष्क केवल हमारे सोचने को ही अंजाम नहीं देता, सोचने के अलावा वह बहुत से अन्य काम भी करता है. मस्तिष्क के कुछ हिस्से इच्छाशक्ति का निर्माण करते हैं और अनेक ऐसे हैं, जो इच्छाशक्ति को 'ओवररूल' कर सकते हैं. चाह कर कोई साँसें एक सीमा तक रोक सकता है. उसके बाद उसका चाहना किनारे कर के मस्तिष्क साँस लेने का आदेश दे देता है. ऐसा न करने पर व्यक्ति की मृत्यु को सकती है.

साँसों पर थोड़ा और विचार कीजिए. व्यक्ति जगते समय भी साँस लेता है, सोते समय भी. जागते और सोते दोनों समय वह सोचकर साँस नहीं लेता. साँस लेने का काम मस्तिष्क के कोई 'स्वतन्त्र या ऑटोनॉमस' हिस्सा के जिम्मे रहता है. लेकिन फिर घबराहट में साँसें तेज हो जाती हैं और क्रोध में भी. खेलकूद के दौरान भी और उत्तेजना में. यानी इन सब मनोभावों के कारण भी साँसों का आवागमन तेजी से होने लगता है क्योंकि ऐसे समय में शरीर को अधिक ऑक्सीजन की दरकार होती है.

साँसें ऑक्सीजन को भीतर लाती हैं, कार्बन डायऑक्साइड को बाहर निकालती हैं. अगर यह काम न किया जाए, तो क्या होगा? खून में से कोशिकाएँ ऑक्सीजन अपने लिए निकालती रहेंगी, उसकी मात्रा गिरती जाएगी. दूसरी ओर कार्बन डायऑक्साइड की मात्रा बढ़ती जाएगी. खून का पीएच गिरने लगेगा और खून अम्लीय हो जाएगा. ऐसे में एक निश्चित सीमा के बाद अगर कोई 'शारीरिक' हस्तक्षेप न हुआ, तो व्यक्ति मर जाएगा.

रक्त का पीएच एक निश्चित सीमा के भीतर रखना है, ताकि व्यक्ति जिये. ऑक्सीजन और कार्बन डायऑक्साइड का स्तर भी एक हद के भीतर रखना है, न कम और न ज्यादा. यह सब सन्तुलन गुर्दों और फेफड़ों के माध्यम से शरीर बनाये रखता है और जीवन सुचारु चलता जाता है.

साँसें स्वयं रोककर मरना सम्भव नहीं. मस्तिष्क ऐसा करने न देगा. वह व्यक्ति की इच्छाशक्ति की अवहेलना करके साँस लेने का आदेश फेफड़ों को दे देगा. लेकिन जबरन हत्या करने वाले साँसें रोककर दूसरों के प्राण ले लेते हैं, ऐसा हम जानते हैं. कारण कि साँसों को रोकने से ऑक्सीजन शरीर में दाखिल नहीं होती और कार्बन डायऑक्साइड का स्तर बढ़ता जाता है. एक समय बाद खून में समुचित ऑक्सीजन न मिलने से मस्तिष्क के अधिक संवेदनशील हिस्से दम तोड़ने लगते हैं. घुटती साँसों के कारण समूचा मस्तिष्क एक साथ नहीं मरता, धीरे-धीरे मरता जाता है.

5.

संसार-भर के कवियों-शायरों ने हृदय पर इतने शब्द क्यों लुटाये हैं, इसे समझने के लिए मेढक पर किया गया जूलॉजी-लैब का वह प्रयोग ही पर्याप्त है, जिसमें नष्ट किये गये मस्तिष्क के बावजूद वह लाल मांसल अंग फूलता-पिचकता रहता है. यक़ीनन दिल को धड़कते रहने के लिए दिमाग की जरूरत नहीं पड़ती!

हृदय का संकुचन स्वायत्त है, दिल की धड़कनें किसी आलिम के कहे नहीं चला करतीं. दिल तो बच्चा है जी, पागल-दीवाना है. चाहे जितनी पंक्तियाँ उठा लीजिए, इसी स्वायत्तता का गुणगान अलग-अलग शब्दों में कविगण करते आपको मिल जाएँगे. वे जानते तो नहीं हैं कि हृदय का एक अपना तन्त्र होता है, जो धड़कनों को बिना दिमाग की मदद के जन्म देता है और फिर उन्हें अंजाम भी; फिर भी उनकी कविताओं में, शायरी में अंग की बेपरवाही की बानगी खूब दिखा करती है.

दिल की धड़कन दिल में ही पैदा होती है. एक लहर की तरह एक कोने में उपजती है, फिर पूरे दिल में कायदे से फैलती जाती है. कायदा इसलिए कि दिल के अलग-अलग हिस्सों में खून भरे और फिर जिस्म-भर में उसे भेज दिया जाए. इसलिए दिमाग रहे- न रहे, दिल धड़क सकता है. बस उसे ऑक्सीजन और खुराक मिलती रहनी चाहिए, ताकि उसकी मांसपेशियाँ और धड़कन पैदा करने वाला तन्त्र मरने न पायें.

तो फिर दिमाग करता क्या है दिल के लिए? क्या कुछ भी नहीं? उसका किसी तरह का क्या कोई नियन्त्रण नहीं? ऐसा नहीं है. दिमाग तन्त्रिकाओं के माध्यम से दिल पर नियन्त्रण रखता है, उसकी धड़कनें घटा-बढ़ा सकता है. लेकिन धड़कनों की पैदाइश वह नहीं करता. उसके रहने-न रहने से दिल की धड़कनें न खुशी का इजहार करती हैं और न गमी मनाती हैं.

एक आदमी अस्पताल में भर्ती है. खून में करोड़ों रसायन हैं. किन्हीं रसायनों की ऊँच-नीच से हृदय की मांसपेशियाँ थम गयीं. उसने अंग-अंग को खून फेंकना बन्द कर दिया. मस्तिष्क को खून नहीं मिला. खून से ऑक्सीजन न मिलने से उसके हिस्से मरने लगे. कुछ मरे, या फिर थोड़ी ही देर में पूरा मस्तिष्क मर गया. इधर डॉक्टरों ने दिल को

थपथपाया, कुछ इंजेक्शनों से उसे उठाया और कहा कि उठ मेरी जान अभी तुझे और चलना है. दिल चल पड़ा. मगर दिमाग ! वह तो गया! उसकी जो कोशिकाएँ मृत हुईं, क्या वे दुबारा जीवित होंगी. नहीं.

इस इंसान का दिल धड़क रहा है. साँसें वेंटिलेटर के कारण डॉक्टरों ने चला रखी हैं. जिस्म गर्म और गुलाबी है, क्योंकि उसे खून मिल रहा है. लेकिन दिमाग मर चुका है. सदा के लिए. यह व्यक्ति ब्रेन-डेड हो चुका है. ब्रेन-डेड यानी डेड. अब चाहे इसका दिल सालों धड़कता रहे और साँसें चलायी जाती रहें, यह चैतन्य कभी नहीं होगा. कभी बात नहीं करेगा, कभी सुख-दुःख नहीं बाँटेगा. यह सोचता नहीं, महसूसता भी नहीं.

एक मशीन इसे साँसें दे रही है और इसका लाल मांसल पम्प चल रहा है. यह व्यक्ति एक यन्त्र-भर है. लेकिन परिवार कैसे गर्म-गुलाबी देह को मृत यन्त्रवत-यन्त्र-संचालित मान ले! वह कहता है, बाबा अभी जिंदा हैं ! देखो उनकी साँसें चल रही हैं! देखो उनकी देह का रंग! कान लगाओ उनकी छाती पर! दिल है न दिल-- वह धड़क रहा है! बाबा अभी उठेंगे और उठकर कहेंगेः ले चलो मुझे इस अस्पताल से !

वे डॉक्टर से पूछते हैं, 'बाबा क्या कोमा से उठ नहीं सकते?' 'नहीं, आप वेंटिलेटर मत हटाइए. लगा रहने दीजिए.' डॉक्टर कहते हैं कि बाबा कोमा में नहीं हैं, ब्रेन-डेड हैं. कोमा अलग स्थिति है, ब्रेन डेड अलग. और हाँ, यही केवल दो स्थितियाँ नहीं हैं. परसिस्टेंट वेजिटेटिव स्टेट अलग है और लॉक्ड इन सिंड्रोम अलग. बाबा जा चुके हैं. उनका मस्तिष्क सदा के लिए सो चुका है.

यंत्रों-दवाओं से संचालित उनका शरीर अब एक यंत्र-भर है. यन्त्र जिसमें एक पागल-दीवाना दिल अब भी धड़क रहा है, कहता हुआ मानो कि ज़िन्दा हूँ मैं, ज़िन्दा है मेरा जिस्म!

6.
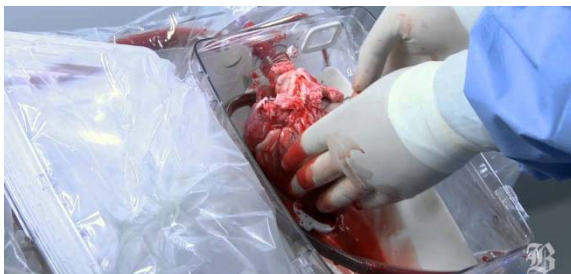
यह एक तीस वर्षीया मृत महिला की सन्तानोत्पत्ति की कहानी है, जिससे मन में कई प्रश्न जन्म ले सकते हैं.

महिला गर्भवती है, उसके गर्भाशय में छह माह का गर्भ है. सब कुछ ठीक-ठाक चल रहा है कि अचानक एक दिन महिला को सिर में तेज दर्द उठता है और वह मूर्च्छित हो जाती है. परिवार वाले उसे लेकर जब डॉक्टर के पास भागते हैं, तो पता चलता है कि महिला के मस्तिष्क में ढेर सारा रक्तस्राव हो गया है. इसी ब्लीडिंग के कारण उसके और उसके अजन्मे शिशु के प्राण संकट में हैं.

प्रयास पूरे किये जाते हैं, लेकिन महिला को बचाया नहीं जा पाता. रक्त-स्राव के बढ़ते दबाव के कारण उसका प्राणान्त हो जाता है. लेकिन चूँकि महिला को अस्पताल के आईसीयू में रखा गया है, इसलिए उसकी साँसें कृत्रिम सहयोग (वेंटिलेटर) के सहारे चल रही हैं और हृदय भी ऑक्सीजन मिलने के कारण धड़क रहा है. डॉक्टर परिवार से पूरे मामले पर चर्चा करते हैं और उन्हें बताते हैं कि महिला मृत हो चुकी है, क्योंकि उसका मस्तिष्क मृत हो चुका है. लेकिन रक्तसंचार और श्वसन को वे कृत्रिम तरीकों से ही सही , जारी रखने की बात कहते हैं ताकि गर्भ में विकसित हो रहे शिशु को परिपक्व होने हेतु थोड़ा समय दिया जा सके. शिशु को जैसे ही वे परिपक्व एवं जन्म लायक समझेंगे, वे ऑपरेशन द्वारा उसे माँ के गर्भाशय से बाहर निकाल लेंगे.

यह सुनने में सामान्य व्यक्ति को अचम्भित करने वाला समाचार हो सकता है. मृत स्त्री और पेट में पल रहा शिशु जीवित! और फिर कुछ सप्ताह बाद उसी शिशु का मृत माता के शरीर से जन्म! क्या सचमुच वह महिला मर चुकी थी! अथवा कहीं हम मृत्यु को समझने में कोई भूल नहीं कर रहे!

उत्तर है कि वह महिला सचमुच मृत हो चुकी थी. किन्तु मरा उसका मस्तिष्क था, वह ब्रेन-डेड हुई थी. अन्य अंगों को मरने से बचाकर रखा गया. ऐसा करके आईसीयू में गर्भस्थ शिशु तक ऑक्सीजन व सभी पोषक पदार्थ पहुँचने दिये गये और इसी कारण फिर सही समय पर मृत माँ के गर्भ से जीवित शिशु का जन्म हुआ.

7.

बहुधा लोग कोमा और ब्रेन-डेथ को एक ही समझने की भूल कर रहे हैं. वे सोच रहे हैं कि जो कोमा में लेटा हुआ है, वह ब्रेन-डेड भी है.

नहीं. कोमा में लेटा हुआ व्यक्ति ब्रेन-डेड नहीं है. उसकी मृत्यु नहीं हुई है. अब यह व्यक्ति आगे कोमा से बाहर आकर सचेत हो भी सकता है और मर भी सकता है. यानी कोमा से लौटा जा सकता है और नहीं भी.

ब्रेन-डेथ यानी मस्तिष्क-मृत्यु से लौटना सम्भव नहीं. जिसकी ब्रेन-डेथ हो गयी , वह मर गया. फिर ब्रेन-डेथ में 'ब्रेन' लगाने की जरूरत क्यों? पुराना 'डेथ' शब्द क्या अपर्याप्त था, जो हम 'ब्रेन-डेथ' ले आये! उत्तर है, कि आज के समय में बिलकुल अपर्याप्त है. ढेरों लोग आजकल घर में या सड़क पर नहीं मरते, अस्पतालों में दम तोड़ते हैं. उन्हें बचाने के प्रयास किये जाते हैं. उन्हें साँसों के लिए वेंटिलेटर पर डाला जाता है, तमाम दवाएँ चलायी जाती हैं. इस कारण उनकी छाती फूलती-पिचकती रहती है और दिल भी धड़कता रहता है.

लेकिन आईसीयू में भर्ती ऐसे कोमा-रोगियों का नित्य मुआयना डॉक्टर करते हैं. कौन डॉक्टर? क्रिटिकल केयर स्पेशलिस्ट यानी इंस्टेंसिविस्ट. वे जो आईसीयू सँभालते हैं. वे ही यह तय कर सकते हैं कि अमुक मरीज अभी कोमा में ही है या फिर कोमा से होता हुआ वह ब्रेन-डेड हो चुका. यदि वह कोमा में है, तो वह अभी जीवित है. ऐसे में उसे बचाने के लिए प्रयास करते रहने चाहिए. सम्भव है कि वह कोमा से बाहर आ जाए. लेकिन अगर वह ब्रेन-डेड है, तो चाहे कुछ कर लें, वह जीवित नहीं होगा. ऐसे व्यक्ति को वेंटिलेटर व दवाओं के उपचार से मुक्त कर देना चाहिए. हाँ, अगर इस ब्रेन-डेड व्यक्ति ने अंगदान की इच्छा जीवित रहते जाहिर की थी, तो यही समय है. ब्रेनडेड व्यक्ति के अंग निकाले जा सकते हैं, ताकि किसी अन्य जरूरतमन्द व्यक्ति में इन्हें प्रत्यारोपित किया जा सके.

पिछली पोस्ट में ढेरों लोग ब्रेनडेड महिला द्वारा सन्तानोत्पत्ति पर आश्चर्यचकित हैं. साधारण सी बात यह समझनी है कि मस्तिष्क की मृत्यु के बाद भी अन्य अंग मेडिकल

सहायता से चलाये जा सकते हैं, लेकिन उसे जीना नहीं कहते. मस्तिष्क अगर मर गया, तो व्यक्ति मर गया. लेकिन मरे मस्तिष्क वाले व्यक्ति के गुर्दे पेशाब बना सकते हैं, दिल धड़क सकता है, जिगर खून की सफाई कर सकता है, फेफड़े वेंटिलेटर की मदद से ऑक्सीजन लेते रह सकते हैं. तो अगर यह सब हो सकता है, तो गर्भाशय में बच्चा भी पनप सकता है, बढ़ सकता है. गर्भाशय और उसमें मौजूद शिशु भी तो माँ का एक अंग ही है न!

कोमा और ब्रेन-डेथ को अलग-अलग करना कानूनी तौर पर भी जरूरी है. कोमा में पड़े व्यक्ति को अस्पताल की आईसीयू से डिस्चार्ज कर देना, उसे मृत्यु की तरफ धकेलने सा काम है. कोमा में पड़े व्यक्ति के अंग नहीं निकाले जा सकते, वह जीवित है. लेकिन ब्रेन-डेड होने के बाद मरीज को वेंटिलेटर पर रखने का क्या लाभ? वह अंगदान भी कर सकता है, जिसकी उसने जीते-जी इच्छा जाहिर की थी.

कोमा और ब्रेन-डेथ में कैसे अन्तर करें? कुछ मोटे-मोटे बिन्दु क्या हैं? कोमा में लेटा व्यक्ति जीवन के कुछ चिह्न प्रदर्शित करता है. उसके मस्तिष्क का मुआयना करके डॉक्टर बता देते हैं कि यह अभी मरा नहीं है, सिर्फ कोमा में है. लेकिन ब्रेन-डेथ के बाद मस्तिष्क से कोई जीवन-चिह्न प्रकट नहीं होता. न किसी मुआयने में और न जाँच में. पूरी तरह से मस्तिष्क सदा के लिए काम करना बन्द कर चुका होता है.

४.

हृदय-गति रुक गयी है. मस्तिष्क पर इसका क्या प्रभाव पड़ेगा? ऑक्सीजन व अन्य पोषक तत्त्व न मिलने से मस्तिष्क की मृत्यु हो जाएगी. मस्तिष्क ही सबसे पहले क्यों मरेगा? क्योंकि उसकी ऊर्जा-आवश्यकताएँ अन्य अंगों से अधिक हैं और इसे शरीर में सभी अंगों पर वरीयता मिली हुई है. क्या समूचा मस्तिष्क खून न पहुँचने पर एक-साथ मरेगा? नहीं. मस्तिष्क के भी भाग-अनुभाग, अंग-उपांग हैं. कुछ ऑक्सीजन की कमी कुछ ही सेकेण्ड झेल पाते हैं, इसलिए शीघ्र मरते हैं. कुछ अन्य हिस्से थोड़े से मजबूत होते हैं, कुछ अधिक देर जी जाते हैं. लेकिन यह-सब मामला मात्र चार-पाँच मिनट का है. बस. इतनी देर मस्तिष्क को खून न मिला और जीवन समाप्त. समाप्त मतलब मस्तिष्क की मृत्यु हो चुकी. अब चाहे इसके बाद हृदय को दुबारा चला दिया जाए, मरा हुआ मस्तिष्क नहीं चलेगा. नतीजन रुकी दिल की धड़कनों को चलने में हुई पाँच मिनट की देरी भी मस्तिष्क के लिए मौत ला सकती है.

मस्तिष्क का सबसे संवेदनशील हिस्सा हिप्पोकैम्पस है. यहाँ पर यादाश्त पुख़्ता की जाती है. इसलिए जब मस्तिष्क को खून नहीं मिलता, तो सबसे पहले हिप्पोकैम्पस की कोशिकाएँ दम तोड़ती हैं. कुछ ही सेकेंडों-मिनटों में ये मरने लगती हैं. यही कारण है कि मस्तिष्क को अगर इतनी देर वे वापस ऑक्सीजन मिलने लगे, तो व्यक्ति को स्मृति नहीं रहती कि उसके साथ अभी-अभी क्या हुआ था.

फिर बौद्धिक व कार्यशील क्षमताओं की बारी आती है. यह सब संचालित होता है सेरिब्रल कॉर्टेक्स से. खून के द्वारा ऑक्सीजन न मिलने से कॉर्टिकल न्यूरॉन मरने लगते हैं. फिर बेसल गैन्ग्लिया मरते हैं. इनकी कोशिकाओं के मरने से हाथों-पाँवों-आँखों का संचालन सदा के लिए नष्ट हो जाता है. फिर थैलेमस मरती है. इसकी कोशिकाओं के मरने से दृष्टि-श्रवण-स्पर्श की क्षमता चली जाती है. अन्त में मरती है ब्रेन-स्टेम, जिसके कारण साँस लेना असम्भव हो जाता है.

मस्तिष्क के ये सभी हिस्से ऑक्सीजन की कमी से एक-साथ नहीं मरते, क्रमशः मरते हैं. यह सब होने में चार-पाँच मिनट का समय लगता है. पाँच मिनट तक

ऑक्सीजन न मिलने पर सम्पूर्ण मस्तिष्क की मृत्यु हो जाती है और व्यक्ति ब्रेन-डेड हो जाता है. लेकिन अगर इसके पहले ही बीच में ऑक्सीजन मस्तिष्क को पुनः मिलने लगी तो? तो ऐसे में मस्तिष्क सम्पूर्ण नष्ट नहीं होता, उसे अधूरी ही क्षति पहुँची होती है. ऐसे व्यक्ति को ब्रेन-डेड नहीं कहा जाता सकता, क्योंकि ब्रेन-डेड कहने के लिए सम्पूर्ण मस्तिष्क की ऐसी क्षति होनी जरूरी है, जिसकी पूर्ति न की जा सके.

मृत्यु अपूरणीय क्षति का ही नाम है. (साहित्यिक तौर पर कहूँ तो यह कि) अपने भीतर अपूरणीय क्षतियाँ देखिए. जितनी हैं, उनकी आपके भीतर मृत्युओं का वास है.

जो पूर्त हो सकता है, वह मृत नहीं हो सकता. और जो मृत नहीं हो सकता, वह कभी जीवित था ही नहीं. 'बस और लड़की के पीछे नहीं भागना चाहिए, एक जाती है तो दूसरी आती है'-- जैसे छिछली उक्तियाँ गढ़ने वाले मृत्यु से भयभीत बाजारवादी हैं. मृत्यु-अंश का अन्तर-संरक्षण सौभाग्यशालियों को मिलता हैः इस सच से वे सर्वथा अनजान बीत जाएँगे.

9.
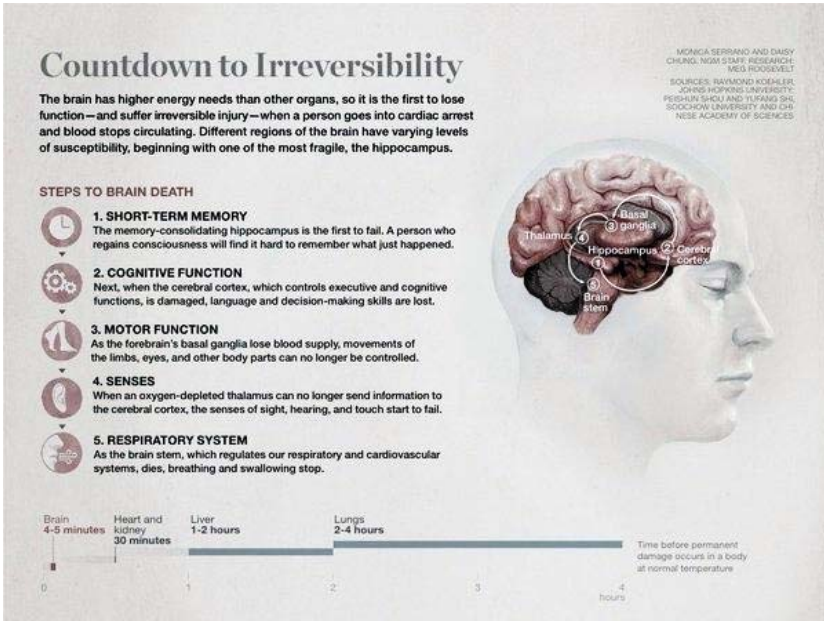
प्रख्यात दार्शनिक रेने देकार्ते ने यों ही नहीं कहा था कि मैं सोचता हूँ, इसलिए मैं होता हूँ. कॉजिटो अर्गो सम!

अस्पताल में मूर्च्छित-अचेत लाया गया व्यक्ति कोमा में हो सकता है, ब्रेन-डेड भी हो सकता है. केवल ये ही परिस्थितियाँ नहीं हैं जिनमें डॉक्टर को अन्तर करना है : वह वेजिटेटिव अवस्था में भी हो सकता है, लॉक्ड-इन-सिंड्रोम में भी. ये सभी परस्पर मिलती-जुलती हैं और इनमें केवल एक वास्तविक मृत्यु है, जिससे लौट पाना रोगी के लिए सम्भव नहीं. जो कोमा में है, वेजिटेटिव अवस्था में है, लॉक्ड-इन-सिंड्रोम में है, वह अब भी जीवित है. लेकिन जो ब्रेन-डेड है, उसका सम्पूर्ण मस्तिष्क सदा के लिए मृत हो चुका और वह कभी पुनर्जीवित नहीं होगा.

ब्रेन-डेड व्यक्ति की पहचान डॉक्टर कैसे करते हैं? इसका सम्पूर्ण विस्तृत उत्तर देना इस लेख का उद्देश्य नहीं. लेकिन कुछ स्थूल बातों को बताना फिर भी जरूरी है. सबसे पहले यह सुनिश्चित करना होता है कि रोगी के शरीर का तापमान सामान्य है अथवा नहीं. और यह भी पता लगाना होता ही कि वह किसी दवा के प्रभाव में तो नहीं. ऐसा इसलिए कि जिस व्यक्ति का शारीरिक तापमान कम है और जो व्यक्ति किन्हीं दवाओं के प्रभाव में है, वह मुआयने के दौरान रिफ्लेक्स काम प्रदर्शित करेगा और इससे ब्रेन-डेथ का भ्रम पैदा हो सकता है.

व्यक्ति को पुकारा गया, उसने कोई जवाब नहीं दिया. वह हिलडुल नहीं रहा, मूर्च्छित पड़ा है. हाथ-पैर एकदम ढीले हैं, उनकी मांसपेशियों में कोई 'टोन' नहीं है. मस्तिष्क से कई खास तंत्रिकाएँ निकलती हैं, जिन्हें क्रेनियल नर्व कहा जाता है. इन क्रेनियल नर्वों के कारण हम-सब कुछ रिफ्लेक्स प्रदर्शित करते हैं. मसलन अगर मेरे मुँह के भीतर अन्दर कोई उँगली डालता है, तो मुझे उपकाई (उल्टी) सी अनुभूति होती है. या अगर मेरी आँख को कोई रुई से छुए, तो पलकें मुँद जाती हैं. ये दोनों उदाहरण क्रेनियल नर्वों से संचालित हैं और क्रेनियल-नर्व-रिफ्लेक्स की श्रेणी में आते हैं. हमारे शरीर में बारह क्रेनियल नर्व हैं और उनसे निर्मित ऐसे अनेक क्रेनियल-नर्व-रिफ्लेक्स

होते हैं, जिनका मुआयना डॉक्टर करते हैं. ब्रेन-डेड व्यक्ति एक भी क्रेनियल-नर्व-रिफ्लेक्स प्रदर्शित नहीं करता.

यह व्यक्ति वेंटिलेटर पर है. वेंटिलेटर के कारण इसके खून में ऑक्सीजन की मात्रा बनी हुई है और कार्बनडायऑक्साइड बाहर निकाली जा रही है. वेंटिलेटर दरअसल इस व्यक्ति के कृत्रिम फेफड़ों की तरह काम कर रहा है. डॉक्टर अब इसे वेंटिलेटर से हटाते हैं. अब चूँकि यह व्यक्ति साँस स्वयं नहीं ले रहा है, तो इसके खून में कार्बनडायऑक्साइड की मात्रा बढ़ने लगती है. यह स्तर एक निश्चित सीमा से जब ऊपर जाने लगता है, तब व्यक्ति के मस्तिष्क का श्वसन-केन्द्र फेफड़ों को साँस लेने का आदेश देता है. लेकिन अगर व्यक्ति ब्रेन-डेड है तब तो श्वसन-केन्द्र भी मर चुका है न! तो ऐसे में कार्बनडायऑक्साइड की खून में मात्रा बढ़ती जाती है, किन्तु व्यक्ति साँस लेने का कोई प्रयास नहीं करता. साथ ही ब्रेन-डेड व्यक्ति का ईईजी (एलेक्ट्रोएन्सेफलोग्राम) कोई हरकत नहीं प्रदर्शित करता. (यह एक जाँच है जो मस्तिष्क की विद्युत-गतिविधियाँ नापती है.)

इन सब मुआयनों व जाँचों में कुछ समय लग जाता है और इनके बाद अगर डॉक्टर मस्तिष्क में जीवन का कोई चिह्न नहीं पाते, तो वे व्यक्ति को ब्रेन-डेड घोषित कर देते हैं. ब्रेन-डेड का अर्थ मृत ही माना जाना चाहिए और आम लोगों को इस शब्द से यह भ्रम कभी नहीं होना चाहिए कि इसमें केवल मस्तिष्क मर जाता है.

मस्तिष्क का होना ही हमारी चेतना का होना है और चेतना के होने से ही हम हम हैं. समूचा मस्तिष्क मृत, तो हम मृत.

10.
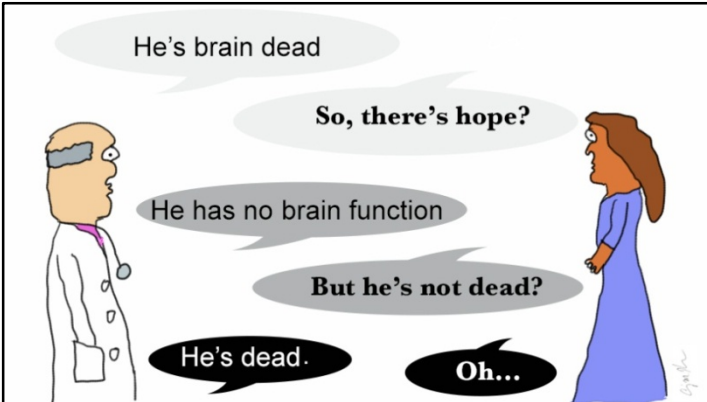
व्यक्ति का मस्तिष्क मर चुका है अथवा अभी जीवित है, इसके लिए डॉक्टर ने उसे वेंटिलेटर से हटाया कि वह कार्बन डायऑक्साइड के प्रभाव के कारण स्वयं साँस लेने का प्रयास करता है अथवा नहीं. ऐसा करने पर उस व्यक्ति की भुजाओं में कम्पन हुआ और त्वचा के रोएँ भी खड़े हो गये. फिर कुछ की क्षण बाद हाथ उठे, भुजाएँ कुहनियों से मुड़ीं और ऐसा लगा जैसे... व्यक्ति जीवित है!

क्या यह व्यक्ति जीवित है? वेंटिलेटर से हटाने पर साँसें वह नहीं ले रहा, लेकिन मांसपेशियों में फड़कन और गति हुई है. क्या इसे जीवन-चिह्न माना जा सकता है? उत्तर है 'नहीं'. आईसीयू के विशेषज्ञ-डॉक्टर इसे चिह्न को लाजरस साइन कहते हैं. बायबिल में वर्णित लाजरस नामक उस पात्र के नाम पर, जिसे ईसा मसीह ने 'पुनर्जीवित' कर दिया था.

मस्तिष्क जिसका मर गया, वह मर गया. ब्रेन-डेथ डेथ है, डेथ ही है. ब्रेन-डेड व्यक्ति में जीवन का कोई चिह्न मिलना लोगों को अचम्भित और दुविधाग्रस्त कर सकता है. ऐसे में लोग डॉक्टर की मृत्यु-घोषणा पर प्रश्न-चिह्न लगा सकते हैं और कई बार ऐसे में बखेड़ा भी खड़ा हो सकता है.

लाजरस साइन दरअसल मस्तिष्क से नियन्त्रित नहीं होत; यह वह रिफ्लेक्स है, जिसे स्पाइनल कॉर्ड यानी रीढ़रज्जु नियन्त्रित करती है. मस्तिष्क के मरने के बाद रीढ़रज्जु जीवित रह सकती है और इसकी सक्रिय तन्त्रिकाओं के कारण हाथों-पैरों में थोड़ी फड़कन कभी-कभार मिल सकती है. लेकिन चूँकि तमाम परीक्षणों में व्यक्ति मर चुका है और वह अब मस्तिष्क-मृत यानी ब्रेन-डेड है, तो वह मृत ही माना जाएगा.

लाजरस साइन शरीर का एक छलावा है, वह व्यक्ति के जीवित होने का संकेत नहीं है.

11.

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।2.58।।

– श्रीमद्भगवद्गीता

(जिस तरह कछुआ अपने अङ्गों को सब ओर से समेट लेता है ऐसे ही जिस काल में यह कर्मयोगी इन्द्रियों के विषयों से इन्द्रियो ंको सब प्रकार से समेट लेता (हटा लेता) है तब उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित हो जाती है.)

हम ऊष्ण रक्त वाले स्तनपायी जीव हैं, मेढकों-छिपकलियों-कछुओं की तरह ठण्ड के मौसम में हायबरनेट नहीं करते. लेकिन कदाचित जीवन को दीघार्यु करने और स्वास्थपरक रखने में हमारी स्तनपायिता को उभयचर्य और सारीसृप्य से बहुत सारे 'शीत-पाठ' सीखने हैं. ऐसी शिक्षा जिससे अपने चयापचय (मेटाबॉलिज्म) को धीमा करके हम मृत्यु को परे ढकेल सकें.

शरीर के तापमान का सामान्य से कम हो जाना या किया जाना हायपोथर्मिया कहा गया है. तापमान की न्यूनता शरीर की कोशिकीय गतिविधियों को शिथिल कर देती है. शारीरिक मेटाबॉलिज्म का यह धीमापन मृत्यु के आगोश में जा रहे व्यक्ति के लिए वरदान बन जाता है और कई बार उसकी जान बच जाती है.

आपको अमेरिकी न्यूरोसर्जन टेम्पल फे का किस्सा सुनना चाहिए. सौ साल पहले उन्होंने इसपर विचार किया था कि फैलता हुआ कैंसर हाथों-पैरों में कम जाता है. उनको इसका कारण शरीर की तुलना में हाथों-पैरों के तापमान का थोड़ा कम होना लगा. धड़ की तुलना में हाथ-पैर थोड़े ठण्डे होते हैं, इस कारण कैंसर-कोशिकाएँ वहाँ आसानी से पनप नहीं पातीं-- ऐसा उन्होंने लगभग सौ वर्ष पहले सोचा था. अपने न्यूरोसर्जरीके करियर के दौरान फे ने बर्फ की सिल्लियों और हाड़ कँपाते जाड़ों में ऑपरेशन थियटर की खिड़कियाँ खोलकर रोगियों पर अनेक प्रयोग किये; वे जो उनके स्टाफ को किसी सनक से ज्यादा नहीं लगते थे.

अपनी रेफ्रिजरेशन-थेरेपी से फे ने पाया कि मृत्यु-दर तापमान गिराने पर कम होती है और दर्द भी. दुखदायी यह हुआ कि इन समाचारों को नात्सियों ने पढ़कर अपने युद्धबन्दियों पर ये प्रयोग आरम्भ कर दिये. और चूँकि इस अमानवीय टॉर्चर का सम्बन्ध जब हिटलर-दल से हो गया, तब काफी समय तक गिरे तापमान का साथ मानव-फिजियॉलोजी के प्रयोग भी रोक दिये गये.

फिर आये पीटर सफर. कई दशक बाद उन्होंने दिखाया कि हृदय के रुकने के तुरन्त बाद यदि शरीर का तापमान पाँच डिग्री भी गिराया जा सके, तो व्यक्ति के मस्तिष्क को मरने से रोका जा सकता है. यानी ठण्ड ब्रेन-डेथ को टाल सकती है, परे ढकेल सकती है. सफर ने अपने इस उपचारी हायपोथर्मिया को 'सस्पेंडेड एनिमेशन फॉर डीलेड रीससीटेशन' कहा.

लोगों के जीवन के अनेक निजी मृत्यु-अनुभव ठण्ड के कारण उन्हें जैसे 'छूते' हुए निकल गये. बर्फ की वादियों में स्कीइंग के दौरान हुए एक्सीडेंट में किसी व्यक्ति के हृदय का रुक जाना. व्यक्ति का बर्फ की परत के नीचे ठण्डे पानी में एक घण्टे तक बिना किसी दिल की धड़कन के पड़े रहना और फिर शरीर को गरमाने पर दिल का फिर से चल पड़ना और मतिष्क की चेतना का लौट आना.

आज मेडिकल क्षेत्र की मुख्य धारा में अस्थापित रहने के बावजूद शरीर को ठण्डा रखकर व्यक्ति की जान बचाना एक ऐसा उपचार है, जिस पर दुनिया-भर में अनेक प्रयोग चल रहे हैं. कितना ठण्डा रखा जाए, कितनी देर रखा जाए, सबको एक ही ढंग से ठण्डा किया जाए-- जैसे ढेर सारे प्रश्न हैं, जिनके उत्तर डॉक्टरों के पास अभी

एकमत-रूप में नहीं हैं. फिर शरीर के तापमान को गिराने से खून न जमने के कारण अत्यधिक रक्तस्त्राव का खतरा भी है. ठण्डे किये गये ऑपरेशन-थियेटरों में सर्जरियों के दौरान और आईसीयू में देखरेख के समय इससे कैसे निपटा जाए, यह भी सोचना है.

साइंस-फिक्शन के अफसाने अन्तरिक्ष-यानों में यात्रियों को फ्रीज करके ले जाने की बात करते हैं. दूर की कौड़ी जान पड़ने के बावजूद इस हायपोथर्मिया के अपने लाभ हैं. जैविक क्रियाओं और चयापचय के शिथिल होने के कारण व्यक्ति ऐसी लम्बी यात्राओं को आसानी से कर सकते हैं. ठण्ड जो चेतना को शिथिल कर देगी, हड्डियों और मांसपेशियों का क्षरण रोकेगी और अन्तरिक्ष-यात्रा के दौरान तमाम बीमारियों से रक्षा भी करेगी. शायद कभी ठण्डे होकर ही हम दूर तारों की दुनिया की सैर पर निकल सकेंगे !

मौत के पंजे में जाती चेतना छीनने के लिए ठण्ड हमारी दोस्त बन कर सामने आती रही है।

12.

पड़े जब गमों से पाले, रहे मिट के मिटने वाले
पड़े जब गमों से पाले, रहे मिट के मिटने वाले
जिसे मौत ने ना पूछा, उसे जिन्दगी ने मारा...

– शकील बदायुँनी

'मृत्यु' एक ऐसा विषय है, जिसको समझने में व्यक्ति अपने धार्मिक संस्कारों और सामाजिक मान्यताओं को वैज्ञानिक समझ पर तरजीह देता है. यही वजह है कि लोग मस्तिष्क को शरीर के सभी अंगों का राजा समझते रहते हैं, जिसके इशारे के बिना देह में कोई हरकत नहीं हो सकती. उन्हें यह स्वीकारने में बहुत मुश्किल होती है कि शरीर का हर अंग मस्तिष्क का दास नहीं है. सामन्ती सामाजिक हायरैर्की इस कदर दिमाग में गहरी छपी है कि वह शरीर की अंगकार्यप्रणाली में भी किसी राजतन्त्र की ही कल्पना करते हुए आगे बढ़ती है.

मस्तिष्क-मृत्यु = मृत्यु. ब्रेन-डेथ = डेथ. इस बात को समझने के बात अब हम दूसरे महत्त्वपूर्ण मृत्यु-सम्बन्धी विषय पर चलते हैं. यूथेनेजिया. अर्थात् व्यक्ति को दी जाने वाली इच्छा-मृत्यु. मार्च, सन् 2018 में माननीय उच्चतम न्यायालय द्वारा भारत में निष्क्रिय यूथेनेजिया को वैधानिक घोषित करने के बाद भी जनता में इसके विषय में अज्ञान एवं दुविधाएँ अनेक हैं.

यू = सम्यक्, थैनेटॉस = मृत्यु. ठीक से मरना यूथेनेजिया शब्द में निहित है. किसी असाध्य रोग के चरम से जूझते व्यक्ति को यदि व्यक्ति स्वयं अथवा उसके परिवार/मित्रगण की इच्छा द्वारा यदि कानून डॉक्टर की सहायता से मृत्यु अंगीकार करने की स्वीकृति देता है, तो इसे यूथेनेजिया कहा जाता है. इसे थोड़ा और विस्तार से समझने का प्रयास करते हैं.

एक व्यक्ति 'अ' है, जो किसी असाध्य रोग से ग्रस्त है. ऐसा रोग जो ठीक नहीं हो सकता और दिन-दिन रोगी की स्थिति को विकल से विकलतर बनाता जा रहा है. ऐसे

में वह रोगी यह निर्णय लेता है कि अगर उसकी स्थिति जब टर्मिनल स्टेज पर पहुँचे, तो उसे डॉक्टर उसके जीवन का अन्त कर दें अथवा उसे टर्मिनल-केयर न दें. असाध्य रोग की चरमावस्था के समय डॉक्टर से मृत्यु के लिए किसी औषधि की इच्छा जताना सक्रिय या ऐक्टिव यूथेनेजिया कहलाता है, जबकि असाध्य रोग की चरमावस्था के समय मेडिकल सहायता न लेना निष्क्रिय या पैसिव यूथेनेजिया. व्यक्ति बीमारी की तकलीफ झेलना नहीं चाहता, इसलिए डॉक्टर से मृत्यु का इंजेक्शन माँगता है-- यह सक्रियता है. व्यक्ति बीमारी के कष्ट को लम्बा न घसीटने के कारण यह कहता है कि मुझे बचाने का प्रयास न किया जाए, यह निष्क्रियता है.

यूथेनेजिया संसार के ढेरों देशों में अभी भी अवैध है. सक्रिय इच्छा-मृत्यु तो वैसे भी बहुत विवादास्पद हैः कारण कि इसका खूब दुरूपयोग सम्भव है. निष्क्रिय इच्छा-मृत्यु को संसार के कुछ देशों में और मार्च 2018 से भारत में वैधता प्राप्त हो चुकी है. लेकिन इसके बावजूद इस विषय में बहुधा लोगों को जानकारी न के बराबर है.

ऊपर जिस व्यक्ति 'अ' की बात हो रही है, वह इच्छामृत्यु के लिए अपनी इच्छा कैसे व्यक्त करेगा? कानून के अनुसार उसे एक लिविंग विल बनानी होगी. एक ऐसा दस्तावेज जिसमें इस बात का जिक्र होगा कि किन परिस्थितियों में उसे निष्क्रिय इच्छामृत्यु दी जा सकती है. असाध्य रोग की चरमावस्था के दौरान जब यह एकदम तय

हो चुका हो कि जीवन को स्वस्थ स्थिति में लौटा पाना असम्भव है, तब लाइफ-सपोर्ट की मशीनें हटा ली जाएँ, भोजन देने के प्रयास न किये जाएँ और कोई ऑपरेशन या दवा देकर जीवन को जबरदस्ती खींचने के प्रयासों को विराम लगा दिया जाए.

लिविंग विल ड्राफ़्ट करने वाले व्यक्ति वयस्क होना चाहिए. साथ ही उसका मानसिक तौर पर स्वस्थ होना जरूरी है. उसे यह भी पता होना चाहिए कि वह क्या करने जा रहा है और अपनी बात एकदम स्पष्ट रूप से उसे व्यक्त करना आना चाहिए. उस व्यक्ति की लिविंग विल किसी दबाव या जोरजबरदस्ती से नहीं लिखवायी जानी चाहिए. उसपर यह भी अंकित होना चाहिए कि रोगी रोगी के चरम प्रतिकूलता के समय किसे अपना अभिभावक नियुक्त कर रहा है. उसपर दो साक्षियों (विटनेसों) के हस्ताक्षरों के साथ एक प्रथम श्रेणी के मजिस्ट्रेट के भी हस्ताक्षर होने चाहिए. इतना सब होने के बाद उचित परिस्थितयों में विधिसम्मत ढंग से डॉक्टर किसी असाध्य रोग की चरमावस्था के दौरान उस रोगी को जीवन-रक्षक उपकरण, दवाएँ व ऑपरेशन सुलभ न कराने का निर्णय ले सकता है ताकि पीड़ाहीन रूप में व्यक्ति को सहज मृत्यु मिल जाए.

देश के हर नागरिक को जीवन जीने का अधिकार है, लेकिन सम्मानपूर्वक मृत्यु भी उसे मिलनी चाहिए. जब जीवन मृत्यु से अधिक पीड़ादायक होने लगे और उसे चलाने में कष्ट की तुलना में मृत्यु का वरण अधिक सहज और सुखद लगे, तब व्यक्ति क्या करे? तथापि पैसिव यूथेनेजिया को भारत में कानूनी स्वीकृति मिलने के बाद लोगों के मन में तमाम संशयात्मक प्रश्नों का उठना जारी है.

नीदरलैंड्स ने सन् 2002 में इच्छामृत्यु को वैध कर दिया था, लेकिन हम नीदरलैंड्स नहीं हैं. जनता के लिए विधि उन्हीं नियमों को वैधता देती है, जिनका वह समझती है कि किसी रूप में दुरुपयोग नहीं होगा. हर देश की जनता सामाजिक दृष्टिकोण से तो भिन्न है ही, उसकी परिपक्वता भी अलग है. ऐसे में हर कानून की वैधता-अवैधता के लिए सम्पूर्ण रूप से पश्चिम के देशों का अनुकरण-अनुसरण नहीं किया जा सकता.

यूथेनेजिया (सक्रिय व निष्क्रिय) के विरोध में कई मत हैं. धार्मिक मत से प्रभावित लोग मानते हैं कि जीवन ईश्वर की देन है और उसे लेने का अधिकार किसी कानून या डॉक्टर को नहीं होना चाहिए. इच्छा-मृत्यु से जीवन की पवित्रता को आघात पहुँचता है

और समाज में यह सन्देश जाता है कि कुछ लोगों का जीवन अन्य बहुसंख्य की तुलना में हीन और समाप्त करने लायक है. सामाजिकी के अनुसार दुरुपयोग तो इसका सम्पत्ति व अन्य कारणों से हो ही सकता है. कई बार जीने-न जीने का निर्णय उतना व्यक्तिगत नहीं होता जितना जान पड़ता हैः दूसरों का जीवन भी व्यक्ति की मृत्यु से प्रतिकूल रूप में प्रभावित होने लगता है. यूथेनेजिया के लिए लिविंग विल ड्राफ़्ट करने वाला व्यक्ति किसी अज्ञात दबाव में हो सकता है. अथवा हो सकता है कि उसे तात्कालिक उन्नत मेडिकल तकनीकों व दवाओं की जानकारी ही न हो, इसलिए वह ऐसा निर्णय भूलवश ले बैठा हो! अथवा व इन सब सुविधाओं को पा सकने में आर्थिक रूप से सक्षम ही न हो? अगर पीड़ाहीन उन्नत चिकित्सा सबको-सभी को मिलने लगेगी और मिल सकेगी, तो मरना कौन चाहेगा? यह भी वि-पक्ष रखा जाता है कि यूथेनेजिया की सामाजिक स्वीकृति आत्महत्या को बढ़ावा देगी और इससे टर्मिनल रूप से बीमार लोगों पर सरकार, समाज, अस्पताल, परिवार कोई ध्यान नहीं देना चाहेगा.

सामजिक भ्रष्टाचार और पारिवारिक मूल्यों के क्षरण के इस दौर में यूथेनेजिया पर एक पंक्ति में हाँ-न कहना सम्भव नहीं जान पड़ता. लेकिन अनेक विरोध-बिन्दुओं के बावजूद स्थूल यथार्थ यही है कि जीवन सदा उतना सुखमय और उम्मीद देता नहीं जान पड़ता, जितना दूर से दूसरे को लगता है. मृत्यु भी उतनी भयावह सदा नहीं होती, जितना हम उसे परम्परागत रूप से मानते हैं. अनेक बार अन्धकार कष्टनिवारक और प्रकाश चुँधियाता-झुलसाता जान पड़ता है. ऐसे में पीड़ित व्यक्ति को एवं उसके लिए क्या करना-किया जाना चाहिए, यह हम-सब को ईमानदारी से सोचने की आवश्यकता है.

13.
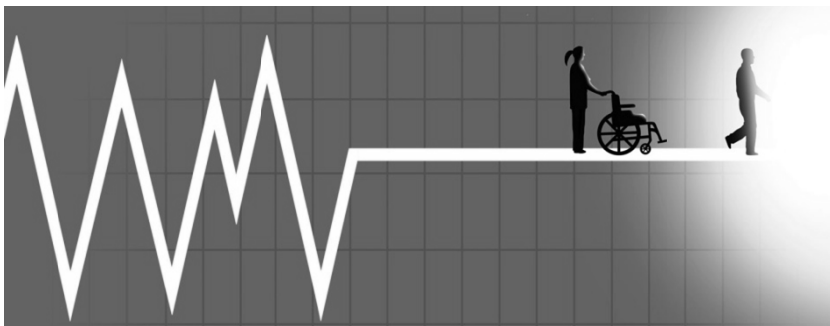
मरना कोई नहीं चाहता. इसलिए अमर होने के दो रास्ते लोग चुनते हैं: पहला प्रजनन और दूसरा सर्जन.

प्रजनन का तरीका मनुष्य के जीनों का अगली पीढ़ी में हस्तान्तरण है. बच्चे होंगे, गुणधर्म का वहन करेंगे. बच्चों में माँ-बाप अपने आंशिक प्रकृत रूप में विद्यमान रहेंगे. सर्जन-रत रहने वाले मनुष्य प्रजनन-रत रहने वाले मनुष्यों से कुछ मायनों में अधिक महत्त्वाकांक्षी होते हैं. वे दीर्घ काल तक अपनी कलाकारिता की बहुव्याप्ति चाहते हैं, उनके मरने के बाद भी उनकी कविता, उनका संगीत, उनका चित्र समाज में सप्रसंग बना रहे.

भविष्य किन्तु दीर्घजीविता और अमरत्व के नये अभिप्राय लेकर हमारे सम्मुख प्रस्तुत है. क्लाउड-आधारित कम्प्यूटर नेटवर्कों से मानव-मस्तिष्क का सम्बन्ध जोड़ने पर काम भी काफी चल रहा है. यह भी प्रयास किया जा रहा है कि मानव-मस्तिष्क की तमाम क्षमताओं को बढ़ाने के लिए उसमें मशीनी उपयन्त्र जोड़ दिये जाएँ. लेकिन सबसे विलक्षण सम्भावित सत्य यह है कि अगले कुछ दशकों में हम मस्तिष्क-कम्प्यूटर-इंटरफेस के क्षेत्र में प्रगति करते हुए इतने आगे निकल जाएँगे कि मृत्यु का सम्पूर्ण सिद्धान्त ही अप्रासंगिक हो जाएगा. मानव की देह जीर्ण पड़ेगी: वह वृद्ध होकर समाप्त हो, इसके पहले ही उसकी मस्तिष्क-चेतना को किसी कम्प्यूटर में सुरक्षित रख लिया जाएगा. इस तरह से व्यक्ति का शरीर को जीर्ण और रुग्ण होकर समाप्त हो जाएगा, किन्तु उसकी चेतना नहीं नष्ट होगी. और फिर इस तरह से मस्तिष्क-चेतना-स्वरूप यह मनुष्य या तो किसी कम्प्यूटर में सुरक्षित वास करेगा अथवा किसी नयी देह की उपलब्धि होने पर वापस उसमें समा जाएगा. यानी देह से कम्प्यूटर और फिर कम्प्यूटर से देह-- इस तरह से मस्तिष्क की चेतना का आदान-प्रदान करने की स्थिति में हम आ जाएँगे.

और फिर अगर कम्प्यूटर में सुरक्षित फाइलों की तरह मानव-मस्तिष्क-चेतना की प्रतियाँ बनायी जाने लगें? और फिर ये प्रतियाँ अलग-अलग देहों में स्थापित की जाने

लगें? ऐसे में क्या इन शरीरों में स्थापित एक ही मानव-मस्तिष्क-चेतना को अलग-अलग मनुष्य माना जाएगा अथवा एक ही मनुष्य के प्रतिरूप?

आने वाला समय जैविक और मशीनी बुद्धिमत्ता के विलय का काल होगा. लोग जो जैविक मनुष्य हैं-- मशीनों के साथ यों रहेंगे-- जैसे वे अन्य जीवों के साथ रहते हैं. मशीनें चेतनामय होंगी, वे पारम्परिक रूप से जैविक न होने के बावजूद जैविक उत्तरदायित्व निभा सकने में सक्षम हो जाएँगी. कृत्रिम बुद्धिमान-बुद्धिमती हमारे सेवक होंगे, साथी भी. हम प्रेम भी इनके साथ करेंगे, प्रजनन भी. हमारे धर्म-जाति-लिंग-नस्ल के झगड़ों में एक और वर्ग निर्मित हो जाएगा और कदाचित् यह सबका शोषण करने-कर सकने वाला सबसे शक्तिशाली समूह होगा.